स्कूल और समाज

जॉन डेवी

स्कूल और समाज जॉन डेवी की संभवतः सर्वाधिक लोकप्रिय (और सर्वाधिक अनूदित) पुस्तक है। यह विश्वविद्यालय के प्राथमिक स्कूल के उस तर्काधार की व्याख्या करती है जिसने उनके शिक्षाशास्त्रीय दृष्टिकोण को इतना प्रसिद्ध किया।

शिक्षा के प्रति डेवी का यह दृष्टिकोण आगे चलकर *मीड* के शिक्षा में सुधार का आधार बना। खासतौर से इसलिए कि यह वह काम व्यावसायिक शिक्षा और सामान्यतः पाठ्यक्रम के विकास से संबंध रखता है।

सबसे पहले 1900 में प्रकाशित इस पुस्तक को बीसवीं सदी के सबसे महत्वपूर्ण विचारक द्वारा शिक्षा संबंधी विचारों के बीजारोपण का कार्य माना जाता है।

pitara the education store

EKLAVYA, E-10, Shankar Nagar,
BDA Colony, Shivaji Nagar, Bhopal-462016 (M.P.)
Phone: (0755) 2550976, 2671017, 6549033
e-mail: pitara@eklavya.in www.eklavya.in

स्कूल और समाज

जॉन डेवी

अनुवाद
सुशील कपूर

आकार

1

स्कूल और सामाजिक प्रगति

हम स्कूल को निजी दृष्टिकोण से देखने के आदी हैं। एक संस्थान जो टीचर और पढ़ने वाले बच्चे के बीच है, या फिर टीचर और मां-बाप के बीच है। हमारी सबसे ज्यादा दिलचस्पी हमारे परिचित बच्चे की निजी प्रगति में होती है। उसकी सामान्य शारीरिक बढ़त, पढ़ने, लिखने, हिसाब जोड़ने में उसकी महारत में तरक्की। इतिहास, भूगोल की उसकी जानकारी में बढ़ोतरी। अदब कायदे, मुस्तैदी, मेहनत, व्यवस्था आदि की आदतों में तरक्की वगैरा। यही वे पैमाने हैं जिनसे हम किसी स्कूल के बारे में तय करते हैं कि उसका काम कैसा है। यह ठीक भी है। लेकिन इस नजरिए को और विस्तार देने की जरूरत है। सबसे अच्छे और समझदार माता-पिता अपने बच्चे के लिए जो चाहते हैं, किसी समुदाय को अपने सभी बच्चों के लिए वही ख्वाहिश रखनी चाहिए। हमारे स्कूल के लिए कोई भी दूसरा आदर्श संकुचित और अप्रीतिकर होगा। अगर उस पर अमल किया जाए तो वह हमारे लोकतंत्र को नष्ट करेगा। हमारे समाज की जो भी उपलब्धियां हैं वे स्कूल के जरीए से ही हैं जो कुछ उसने अपने भावी सदस्यों को दिया है। वह अपने बारे में जो कुछ बेहतर सोचती है, नई संभावनाओं के रूप में जो कुछ पाने की उम्मीद रखती है वह सब उसके भविष्य पर ही निर्भर होता है। यहां व्यक्तिवाद

और समाजवाद एक हो जाते हैं। जिन व्यक्तियों से मिलकर समाज बनता है, उन सभी के पूर्ण विकास के लिए सच्ची कोशिश करने पर ही कोई समाज अपने प्रति सच्चा और ईमानदार हो सकता है। इस तरह के आत्मनिर्देश के लिए स्कूल से बढ़कर और कुछ नहीं। होरेस मान ने ठीक ही कहा है, ''जहां कुछ उग्राया जा रहा हो, एक किसान हजारों सुधारकों से बेहतर है।''

जब कभी हमारे मन में शिक्षा के बारे में किसी नई गतिविधि पर चर्चा का विचार आए, उसके लिए समाजिक और व्यापक नजरिया अपनाना बहुत जरूरी है। वरना स्कूल की संस्था या रिवायतों में बदलाव लाने का मतलब कुछ टीचरों की मनमानी कल्पना समझा जाएगा। बुरी से बुरी हालत में अस्थायी झक और अच्छे से अच्छा समझें तो कुछ मामलों में सुधार। और यही आधार है जिस पर स्कूलों में सुधार के बारे में सोचने का रिवाज बन गया है। यह तो उसी तरह है जैसे टेलीग्राफ उपकरण या इंजन को निजी उपकरण मान लेना। शिक्षा के पाठ्यक्रम या पद्धति में होने वाले संशोधन समाज की बदलती परिस्थितियों के अनुरूप होते हैं। ये आने वाले नए समाज की जरूरतों को पूरा करने की कोशिश होती है। उसी तरह जैसे उद्योग और वाणिज्य में परिवर्तन होते रहते हैं।

अतः मैं आपका ध्यान विशेष रूप से इस ओर आकर्षित करना चाहता हूं। उस धारणा को विकसित करने की कोशिश जिसे समाज में होने वाले बड़े परिवर्तनों के आलोक में मोटे तौर पर 'नई शिक्षा' कहा जा सकता है। क्या हम इस 'नई शिक्षा' को घटनाक्रम की आम रफ्तार के साथ जोड़ सकते हैं? अगर हम ऐसा कर सकें तो हम इसके एकाकी स्वरूप को खो देंगे। वह स्वरूप जिसे विशेष शिष्यों के लिए शिक्षाशास्त्रियों के मस्तिष्क से निकली चीज समझा जाता रहा है। तब यह समग्र सामाजिक पद्धति का एक हिस्से की तरह नजर आएगी। कम से कम इसका

स्वरूप और सामान्य व व्यापक होना तो लाजमी है। ऐसी स्थिति में पहले हम सामाजिक हलचलों के मुख्य पहलुओं को देखें और फिर स्कूल की तरफ देखें कि उसे इनके अनुरूप करने के लिए क्या प्रयास करने की आवश्यकता है। सारे आधार को लेकर चलना तो नामुमकिन होगा। इसलिए मैं खुद को ज्यादातर आधुनिक स्कूल गतिविधि के एक विशिष्ट पहलू मैनुअल ट्रेनिंग तक सीमित रखूंगा। इस उम्मीद से कि इससे इसका बदलती सामाजिक स्थितियों से संबंध उजागर होता है। तभी तो हम शिक्षा संबंधी दूसरे संशोधनों की धारणा बनाने के लिए तैयार हो सकेंगे।

उक्त सामाजिक परिवर्तनों के विस्तार में न जाने के लिए मैं यहां क्षमा याचना नहीं करूंगा। वे तो इतने मोटे अक्षरों में लिखे हैं कि कोई दौड़ता-दौड़ता भी उनको पढ़ सकता है। एक परिवर्तन तो सबसे पहले दिमाग में आता है। यह दूसरे सभी परिवर्तनों पर हावी है और उन पर इसका नियत्रण भी है। यह है औद्योगिक परिवर्तन। विज्ञान का अनुप्रयोग जिससे सामान्य आविष्कार होते रहते हैं। यह प्रकृति की शक्तियों का बहुत बड़े पैमाने पर इस्तेमाल करते हैं। उनके उत्पादनों का लक्ष्य विश्व मंडियां होती हैं। इन मंडियों की सप्लाई के लिए वे बड़े उत्पादन केंद्र स्थापित करते हैं। इन मंडियों के हिस्सों तक पहुंचने के लिए संचार व वितरण के सस्ते व तेज रफ्तार साधन विकसित किए जा रहे हैं। उसकी हल्की शुरुआत को भी लें तो यह परिवर्तन एक सदी से ज्यादा पुराना नहीं है। अपने कई अहम पहलुओं में तो यह आज के कई लोगों के समय का ही है। इस बात पर सहसा विश्वास नहीं होता कि इतिहास में कभी ऐसी तेज, इतनी संपूर्ण और इतनी व्यापक क्रांति भी हुई है। इससे दुनिया की रूपरेखा ही बदल रही है। उसके भौतिक स्वरूप में भी। राजनीतिक सीमाएं समाप्त हो रही हैं। या फिर वे अपनी जगह बदल रही हैं। इस तरह मानो कागज पर खिंची लकीरें हों। दुनिया के कोनों से आकर जनसंख्या शहरों

में इकट्ठी हो रही है। जीने की आदतें तेजी के साथ पूरी तरह बदल रही हैं। प्रकृति के सत्यों की खोज के लिए सुविधाएं हो गई हैं। उन सत्यों को जीवन में लागू करना न केवल संभव हो गया है, यह व्यावसायिक अनिवार्यता भी बन गया है। हमारे नैतिक व धार्मिक विचार व रुचियां हमारे स्वभाव में बहुत गहरे पैठी होती हैं। वे सबसे अधिक रूढ़ियों से बंधी होती हैं। लेकिन अब उन पर भी इसका गहरा असर दिखाई दे रहा है। यह सोचना कि इस क्रांति का सतही तौर को छोड़कर शिक्षा पर और कोई प्रभाव न होगा, संभव नहीं।

उद्योगतंत्र के पीछे परिवार पद्धति और पासपड़ोस होता है। आज हम में से जो यह खोजना चाहें कि परिवार पद्धति कब औद्योगिक व्यवसाय का केंद्र होती थी, तो उनको इसके लिए एक, दो या मुश्किल से तीन पीढ़ी पीछे जाना पड़ेगा।

पहनने के कपड़े न सिर्फ घर में बनाए जाते थे, बल्कि परिवार के सदस्य भेड़ों को मूंडने, ऊन धुनने-कातने और करघा चलाने की कला भी जानते थे। तब एक बटन दबाकर घर में उजाला नहीं किया जाता था। इसके लिए पहले जानवर मारकर, उसकी चर्बी निकालकर मोमबत्ती बनाते थे, तब उसे जलाकर इतनी मेहनत से उजाला करते थे।

आटा, लकड़ी, खाद्य सामग्री, इमारती सामान, घर का फर्नीचर यहां तक कि बर्तन, कीलें, कब्जे, हथौड़े, ये सभी पास-पड़ोस में ही मिलते थे। इनकी दुकानें अक्सर बस्ती के बीचोबीच में होती थीं और निरीक्षण के लिए सदा खुली रहती थीं। सारी औद्योगिक प्रक्रिया सबके सामने खुली थी। कच्चे माल की तैयारी से लेकर इस्तेमाल के लिए तैयार उत्पाद तक। यही नहीं, परिवार का हर सदस्य अपने हिस्से का काम करता था। जैसे-जैसे बच्चों की क्षमता बढ़ती जाती वे उत्पादन की बारीकियां सीखते जाते। यह तात्कालिक और निजी महत्व का मामला था। इसमें हिस्सा बंटाने तक।

उत्पादन की इस प्रक्रिया में जो अनुशासन व वांछित आदतें डालने का प्रशिक्षण निहित था, हम उसे नजरअंदाज नहीं कर सकते। यह था जिम्मेदारी, कुछ करने की बाध्यता, दुनिया के लिए कुछ उत्पादन करना। हमेशा कुछ न कुछ ऐसा होता था जो किया जाना जरूरी था। इसके लिए जरूरी था कि परिवार का हर सदस्य अपने हिस्से का काम पूरी निष्ठा से व दूसरे के साथ सहयोग से करे। काम की प्रक्रिया के दौरान उस व्यक्तित्व का परीक्षण होता था जो इसी में विकसित होता था। एक बार फिर हम उस सीखने की प्रक्रिया को नजरअंदाज नहीं कर सकते जो इस दौरान हासिल होती थी। यह प्रकृति के साथ सीधे परिचय की प्रक्रिया थी। यह वास्तविक वस्तुओं और साजसामान के साथ परिचय था। यह उनको इस्तेमाल करने के वास्तविक तरीके और उनकी सामाजिक आवश्यकताओं को जानना था। इस सब के दौरान देखने, महारत हासिल करने, सृजनात्मक कल्पना, तार्किक सोच और वास्तविकता की समझ विकसित करने की निरंतर ट्रेनिंग मिलती थी। घरेलू कताई-बुनकारी, आरा मशीन, चक्की चलाने, ठठेरे, लुहार का काम करने, ढलाई वगैरा की शिक्षा लगातार इन उद्यमों में मिलती रहती थी।

जानकारी के लिए चाहे कितने ही वस्तु विषयक पाठ पढ़ाए जाएं, लेकिन वे खेत व बागबगीचे के पौधों या पशुओं की उनके साथ रह कर और उनकी देखभाल करके हासिल की गई जानकारी की परछांईं के बराबर भी नहीं हो सकती। स्कूल में प्रशिक्षण देने के लिए ज्ञानेंद्रिय विषयक चाहे जितनी शिक्षा क्यों न दी जाए, वह किसी पेशे को पूरी दिलचस्पी से उसमें लीन होकर करने की तत्परता से प्राप्त ज्ञान के समकक्ष नहीं हो सकती। मौखिक याद्दाश्त को किसी काम को कैसे किया जाए, इसके लिए प्रशिक्षित किया जा सकता है। विज्ञान व गणित के पाठ के माध्यम से तर्क शक्ति को किसी सीमा तक विकसित किया जा सकता है।

लेकिन किसी वास्तविक उद्देश्य के लिए जिसका परिणाम सामने आ रहा हो, किए जाने वाले काम में जो प्रशिक्षण मिलता है और जो तत्परता हासिल होती है यह उसकी परछांईं भर ही होगा। लेकिन आज उद्योगों के सघनीकरण और श्रम के विभाजन के फलस्वरूप घरेलू व पासपड़ोस के पेशे खत्म हो गए हैं। कम से कम शिक्षा के निमित्त तो ऐसा ही हुआ है। लेकिन पुराने अच्छे दिनों के बीत जाने पर विलाप करना तो व्यर्थ ही होगा जब बच्चे बहुत भोले, आज्ञाकारी व आदर करने वाले होते थे। अगर हम समझते हैं कि विलाप करने या उपदेश देने से ही पुराने दिन लौट आएंगे तो बेकार ही है। मूलभूत स्थितियां बदल गई हैं और इनके लिए शिक्षा में भी मूलभूत परिवर्तन की आवश्यकता होगी। हमें अपने आप को पुनः संगठित करना होगा। अपनी सहनशक्ति को बढ़ाना होगा। सामाजिक आकलन को व्यापक बनाना होगा। मानव स्वभाव की अपनी जानकारी में वृद्धि करनी होगी। स्वभावगत लक्षणों को पहचानने व सामाजिक स्थितियों के निहितार्थ को समझने के लिए अपनी तत्परता को विकसित करना होगा। व्यावसायिक गतिविधियों के साथ संपर्क व विभिन्न व्यक्तित्वों के अनुकूल अपने आपको बदलने की आदत डालनी होगी। आज के शहर में पलने वाले किसी बच्चे के लिए इन सब बातों को ध्यान में रखना बहुत महत्व रखता है। अभी भी एक समस्या है। हम इन सब लाभों को बनाए रखकर भी स्कूल में जीवन के दूसरे पहलू को किस तरह लागू कर सकते हैं। यह है पेशे का पहलू जो बच्चे को जीवन की भौतिक वास्तविकताओं का प्रशिक्षण देता है।

जब हम स्कूल की तरफ देखते हैं तो पाते हैं कि आजकल एक प्रवृति जोरों पर है। यह है कथित दस्तकारी की ट्रेनिंग देने की प्रवृत्ति। इसमें उनको कार्यशाला का काम, सिलाई, खाना बनाने आदि की ट्रेनिंग दी जाती है।

यह 'सोद्देश्य' नहीं किया जा रहा है। पूरी जागरूकता के साथ नहीं किया जा रहा है कि पहले जो ट्रेनिंग घर पर मिलती थी बच्चों को अब उसके तत्व हासिल हों। यह तो एक प्रवृत्तिवश प्रयोग के तौर पर किया जाता है। यह जानने के लिए कि बच्चों पर इसका प्रभाव होगा और उनको कुछ ऐसा ज्ञान मिलेगा जो किसी और तरीके से नहीं दिया जा सकता। इसके बारे में जागरूकता आज भी इतनी न्यून है कि यह काम आधे दिल से, भ्रामक व असम्बद्ध तरीके से किया जाता है। इसके लिए जो कारण बताए जाते हैं वे अति अपर्याप्त या कई बार एकदम गलत ही होते हैं।

जो लोग स्कूलों में इस पद्धति को लागू करने के बहुत हिमायती हैं, मेरे ख्याल में अगर उनसे भी पूछताछ की जाए तो आमतौर पर वजह यह बताई जाएगी कि इससे बच्चों का ध्यान दस्तकारी में केंद्रित होता है और वे इसमें बहुत दिलचस्पी लेते हैं। इससे वे तत्पर और सक्रिय बने रहते हैं। निष्क्रिय और ग्रहणशील बने रहने के बजाय इससे वे अधिक सक्षम और उपयोगी बनते हैं। लिहाजा उनमें घर पर अधिक सहायता करने की प्रवृत्ति पनपती है। यह उनको किसी हद तक भावी जीवन के व्यावहारिक कर्तव्यों को निभाने योग्य बनाता है। इससे लड़कियां अपनी गृहस्थी को बेहतर तरीके से संभालने लायक जरूर बनती हैं। भले ही वे अच्छी रसोइया या दर्जी न बनें। लड़के अपनी भावी पेशे के लायक बनते हैं। मैं इन कारणों का अवमूल्यन नहीं करना चाहता। लेकिन बच्चे के बदलते रुझान के संदर्भ में मैं अपने अगली वार्ता में जरूर कुछ कहूंगा जब मैं स्कूल और बच्चे के सीधे संबंधों की चर्चा करूंगा। लेकिन यह दृष्टिकोण बहुत संकुचित है। हमें लकड़ी व धातु, बुनकारी व सिलाई के काम को जीवन के एक तरीके की तरह देखना चाहिए न कि एक और शिक्षा के तौर पर।

हमें उनका सामाजिक महत्व समझना चाहिए। ऐसी क्रियाएं जिनसे समाज चलता है। ऐसी एजेंसियां जिनसे बच्चा सामुदायिक

जीवन की प्राथमिक आवश्यकताओं से दो चार होता है। यह भी समझता है कि किस तरह मानव की विकसित होती अंतर्दृष्टि और प्रवीणता ने उन आवश्यकताओं को पूरा किया। इसका प्रशिक्षण देने के लिए स्कूल को सामुदायिक जीवन के एक वास्तविक स्वरूप की तरह कार्य करना होगा न कि पाठ पढ़ाने वाली एक अलग इकाई की तरह।

समाज बहुसंख्य लोगों की एक जमात होती है जो किसी एक साझे उद्देश्य को पूरा करने के लिए साझी भावना के साथ साझे तरीके से संलग्न रहने के कारण एकजुट होती है। साझी जरूरतों और उद्देश्य को पूरा करने के लिए विचारों को लगातार आदान-प्रदान करना होता है। इसके साथ ही एकता और परस्पर सहानुभूति की भावना भी प्रगाढ़ होती है। आज का स्कूल अपने आपको एक स्वाभाविक सामाजिक इकाई के तौर पर संगठित नहीं कर सकता। इसका मूल कारण यह है कि इसमें साझी सृजनात्मकता और परस्पर सहानुभूति की भावना नहीं है। खेल के मैदान में सामाजिक संगठन अनिवार्यतः अपने आप ही बन जाता है। जरूरत इस बात की होती है कि कुछ किया जाए। कुछ गतिविधि हो जिसमें श्रम का स्वाभाविक विभाजन हो। जिसके लिए नेता और अनुगामियों का चयन हो। जिसमें परस्पर सहयोग और प्रतिस्पर्धा हो। स्कूल की कक्षा में सामाजिक संगठन के उद्देश्य व एकजुटता दोनों का अभाव है। जहां तक जातीयता का प्रश्न है, विडंबना यह है कि आज का स्कूल समाज के भावी सदस्यों को एक ऐसे माध्यम से तैयार करता है जो सामाजिकता की भावना शून्य होती है।

स्कूली जीवन में पेशे को केंद्र बनाने से जो परिवर्तन आएगा उसे शब्दों में बयान करना सहज नहीं है। यह प्रेरणा व भावना का अंतर है। यह वातावरण का अंतर है। अगर आप किसी स्कूल के व्यस्त रसोईघर में प्रवेश करें जहां बच्चों का एक ग्रुप भोजन

बना रहा है तो वहां मनोवृत्ति का अंतर स्पष्ट हो जाएगा। एक निष्क्रिय ग्रहणशीलता वे विपरीत उर्जा का उत्सर्जन वहां ऐसे दिखाई देगा जैसे कुछ प्रत्यक्षतः सामने आ जाता है। जिन लोगों में स्कूल के लिए एक पूर्वाग्रह की भावना बनी हुई है उनको निश्चय ही इससे धक्का लगेगा। लेकिन समाजिक प्रवृत्ति में यह परिवर्तन निश्चय ही प्रत्यक्ष दिखेगा। सत्य और तथ्यों का समावेशन एक ऐसा व्यक्तिगत मामला है कि स्वभावतः इसे निजी स्वार्थ समझ लिया जाता है। इसमें कोई सामाजिक उद्देश्य दिखाई नहीं पड़ता। शिक्षा प्राप्त करने और सफलता पाने में किसी सामाजिक उपलब्धि का पता नहीं चलता। अधिकांशतः सफलता का एकमात्र पैमाना प्रतियोगी है। यानी इसके खराब अर्थों में यह कि किस बच्चे ने मौखिक तौर पर या परीक्षा में दूसरे से अधिक जानकारी आत्मसात व संग्रह की है। यह वातावरण ऐसी संपूर्णता को पहुंच गया है कि एक विद्यार्थी की दूसरे को जानकारी ग्रहण करने में सहायता करना स्कूली अपराध बन गया है। जहां स्कूल का काम सिर्फ पाठ पढ़ाना भर है, स्वाभाविक सहयोग व साहचर्य के बजाय परस्पर सहायता को अपने पड़ोसी को उसके कर्तव्य से मुक्त कराने का प्रच्छन्न प्रयास माना जाता है। जहां सक्रिय काम होता है, यह सब बदल गया है। वहां दूसरों की सहायता करना, सहायता पाने वाले पर दया करने के बजाय उसकी क्षमताओं को उन्मुक्त करके उसकी अंतःप्रेरणा को बढ़ावा देना होता है। इस प्रक्रिया में मुक्त संवाद, विचारों का आदन-प्रदान, सुझाव, पहले की सफलताओं-विफलताओं के परिणाम से प्राप्त अनुभव, ये सभी मुखर हो कर सामने आते हैं। जहां तक प्रतिस्पर्धा का सवाल है वह सिर्फ व्यक्तियों की तुलना तक सीमित होती है। वह किसी व्यक्ति विशेष द्वारा आत्मसात जानकारी की गुणवत्ता पर आधारित नहीं होती। उसे किए गए कार्य की गुणवत्ता के संदर्भ में देखा जाता है जो किसी भी समुदाय का गुणवत्ता मानक

जीवन की प्राथमिक आवश्यकताओं से दो चार होता है। यह भी समझता है कि किस तरह मानव की विकसित होती अंतर्दृष्टि और प्रवीणता ने उन आवश्यकताओं को पूरा किया। इसका प्रशिक्षण देने के लिए स्कूल को सामुदायिक जीवन के एक वास्तविक स्वरूप की तरह कार्य करना होगा न कि पाठ पढ़ाने वाली एक अलग इकाई की तरह।

समाज बहुसंख्य लोगों की एक जमात होती है जो किसी एक साझे उद्देश्य को पूरा करने के लिए साझी भावना के साथ साझे तरीके से संलग्न रहने के कारण एकजुट होती है। साझी जरूरतों और उद्देश्य को पूरा करने के लिए विचारों को लगातार आदान-प्रदान करना होता है। इसके साथ ही एकता और परस्पर सहानुभूति की भावना भी प्रगाढ़ होती है। आज का स्कूल अपने आपको एक स्वाभाविक सामाजिक इकाई के तौर पर संगठित नहीं कर सकता। इसका मूल कारण यह है कि इसमें साझी सृजनात्मकता और परस्पर सहानुभूति की भावना नहीं है। खेल के मैदान में सामाजिक संगठन अनिवार्यतः अपने आप ही बन जाता है। जरूरत इस बात की होती है कि कुछ किया जाए। कुछ गतिविधि हो जिसमें श्रम का स्वाभाविक विभाजन हो। जिसके लिए नेता और अनुगामियों का चयन हो। जिसमें परस्पर सहयोग और प्रतिस्पर्धा हो। स्कूल की कक्षा में सामाजिक संगठन के उद्देश्य व एकजुटता दोनों का अभाव है। जहां तक जातीयता का प्रश्न है, विडंबना यह है कि आज का स्कूल समाज के भावी सदस्यों को एक ऐसे माध्यम से तैयार करता है जो सामाजिकता की भावना शून्य होती है।

स्कूली जीवन में पेशे को केंद्र बनाने से जो परिवर्तन आएगा उसे शब्दों में बयान करना सहज नहीं है। यह प्रेरणा व भावना का अंतर है। यह वातावरण का अंतर है। अगर आप किसी स्कूल के व्यस्त रसोईघर में प्रवेश करें जहां बच्चों का एक ग्रुप भोजन

बना रहा है तो वहां मनोवृत्ति का अंतर स्पष्ट हो जाएगा। एक निष्क्रिय ग्रहणशीलता वे विपरीत उर्जा का उत्सर्जन वहां ऐसे दिखाई देगा जैसे कुछ प्रत्यक्षतः सामने आ जाता है। जिन लोगों में स्कूल के लिए एक पूर्वाग्रह की भावना बनी हुई है उनको निश्चय ही इससे धक्का लगेगा। लेकिन समाजिक प्रवृत्ति में यह परिवर्तन निश्चय ही प्रत्यक्ष दिखेगा। सत्य और तथ्यों का समावेशन एक ऐसा व्यक्तिगत मामला है कि स्वभावतः इसे निजी स्वार्थ समझ लिया जाता है। इसमें कोई सामाजिक उद्देश्य दिखाई नहीं पड़ता। शिक्षा प्राप्त करने और सफलता पाने में किसी सामाजिक उपलब्धि का पता नहीं चलता। अधिकांशतः सफलता का एकमात्र पैमाना प्रतियोगी है। यानी इसके खराब अर्थों में यह कि किस बच्चे ने मौखिक तौर पर या परीक्षा में दूसरे से अधिक जानकारी आत्मसात व संग्रह की है। यह वातावरण ऐसी संपूर्णता को पहुंच गया है कि एक विद्यार्थी की दूसरे को जानकारी ग्रहण करने में सहायता करना स्कूली अपराध बन गया है। जहां स्कूल का काम सिर्फ पाठ पढ़ाना भर है, स्वाभाविक सहयोग व साहचर्य के बजाय परस्पर सहायता को अपने पड़ोसी को उसके कर्तव्य से मुक्त कराने का प्रच्छन्न प्रयास माना जाता है। जहां सक्रिय काम होता है, यह सब बदल गया है। वहां दूसरों की सहायता करना, सहायता पाने वाले पर दया करने के बजाय उसकी क्षमताओं को उन्मुक्त करके उसकी अंतःप्रेरणा को बढ़ावा देना होता है। इस प्रक्रिया में मुक्त संवाद, विचारों का आदन-प्रदान, सुझाव, पहले की सफलताओं-विफलताओं के परिणाम से प्राप्त अनुभव, ये सभी मुखर हो कर सामने आते हैं। जहां तक प्रतिस्पर्धा का सवाल है वह सिर्फ व्यक्तियों की तुलना तक सीमित होती है। वह किसी व्यक्ति विशेष द्वारा आत्मसात जानकारी की गुणवत्ता पर आधारित नहीं होती। उसे किए गए कार्य की गुणवत्ता के संदर्भ में देखा जाता है जो किसी भी समुदाय का गुणवत्ता मानक

है। एक व्यापक व अनौपचारिक तरीके से स्कूली जीवन सामाजिक आधार पर संगठित किया जाता है।

इस संगठन में स्कूल के अनुशासन व नियमन का सिद्धांत परिलक्षित होता है। दरअसल नियमन तो किसी लक्ष्य के सापेक्ष्य ही होता है। अगर आपका लक्ष्य चालीस-पचास बच्चों को कोई पाठ याद कराके टीचर को सुनाना है तो आपका अनुशासन उस लक्ष्य को पाने के अनुरूप ही होगा। लेकिन अगर लक्ष्य सामाजिक सहयोग व सामुदायिक जीवन है तो अनुशासन उसी में से पनपेगा और उसी के सापेक्ष्य होगा। जहां उत्पादन की क्रिया चल रही हो वहां एक तरह की व्यवस्था कम होती है। बल्कि किसी भी व्यस्त कार्यशाला में एक तरह की अव्यवस्था ही होती है। वहां खामोशी नहीं हो सकती। वहां लोग एक खास तरह की मुद्रा में बैठे भी नहीं हो सकते। उनकी बाहें मुड़ी हुई नहीं होतीं। वे एक खास अंदाज में किताबें पकड़े हुए नहीं होते। वह कई तरह के काम कर रहे होते हैं। वहां कुछ अफरातफरी भी होती है। काम की सक्रियता की वजह से शोरशराबा भी होता है। लेकिन पेशे की वजह से, ऐसे काम करने की वजह से जिनके परिणाम आने निश्चित हैं और इनको एक सामाजिक व सहयोगी व्यवस्था के अंतर्गत करने से वहां एक अपनी ही तरह का अनुशासन पैदा होता है। इस दृष्टिकोण को समझने के बाद हमारी स्कूली अनुशासन की सारी धारणा ही बदल जाती है। उस घड़ी में हम समझ जाते हैं कि हमारे लिए एकमात्र अनुशासन और एकमात्र प्रशिक्षण जो संस्थान बनता है, वही है जो जीवन के माध्यम से प्राप्त होता है। हम अपने अनुभव से सीखते हैं। पुस्तकों या दूसरे के कहे से तभी सीखते हैं जब वह अनुभव से संबद्ध हो। तब वे केवल वाक्यांश नहीं रहते। लेकिन स्कूलों को जीवन की सामान्य स्थितियों व उद्देश्यों से इतना अलग-थलग कर दिया गया है कि जिस जगह हम बच्चों को अनुशासन सीखने के लिए भेजते हैं जहां

दुनिया में अनुशासन सीखना सबसे मुश्किल होता है। जबकि हम इसे अनुशासन सिखाने का सर्वोत्तम स्थान मान बैठे हैं। यहां तो अति संकुचित परंपरागत स्कूली अनुशासन ही हावी रहता है। इसमें उस व्यापक व गहरे अनुशासन को नजरअंदाज करने का भय है जो सृजनात्मक काम करने से हासिल होता है। ऐसा काम जो सामुदायिक भावना के साथ स्पष्ट व दृष्टिगोचर परिणाम सामने लाता है। जिसके संदर्भ में उत्तरदायित्व सौंपा जा सकता है और सही निर्णय लिया जा सकता है।

इसलिए हर तरह के पेशे की गतिविधियां सिखाने वाले स्कूलों में ध्यान देने की बात यह है कि इनके माध्यम से सारी स्कूली भावना का नवीकरण हो जाता है। उसे जीवन के साथ संबंध जोड़ने का अवसर मिलता है। वह बच्चे का आवास बन जाता है। वहां वह जीने के निर्देशों के साथ सीखता है, उस जगह के बजाय जहां उसे सिर्फ पाठ पढ़ाए जाते हैं जिनका कभी भावी जीवन में उपयोग के साथ अदृश्य सा संबंध हो। उसे एक तरह का लघु समुदाय बनने का अवसर मिलता है, एक प्रकार का भ्रूणीय समाज। यह आधारभूत तथ्य है। इसी से निर्देश के निरंतर व अनुशासित स्रोत निकलते हैं। जिस औद्योगिक समय की हम चर्चा कर आए हैं उसमें बच्चा काम में सहभागी बनता था। यह केवल सहभागी बनने के लिए नहीं, बल्कि उत्पाद के लिए होता था। इससे मिली शिक्षा के परिणाम वास्तविक होते थे। फिर भी वे आनुषंगिक व निर्भरता लिए होते थे। लेकिन स्कूल में जो विशिष्ट पेशे सिखाए जाते हैं वे आर्थिक दबाव से मुक्त होते हैं। इनका लक्ष्य उत्पाद का आर्थिक मूल्य न होकर सामाजिक शक्ति व अंतर्दृष्टि का विकास करना होता है। संकीर्ण उपयोग से मुक्त होने के कारण मानव चेतना के लिए इनमें वे संभावनाएं बनती हैं जो हमारे कला, विज्ञान व इतिहास के केंद्रों में दिखाई देती हैं।

सब तरह के विज्ञान की एकात्मता भूगोल में दिखाई देती है।

भूगोल का महत्व यह है कि यह धरती को मानव के कार्यकलापों के आवास के तौर पर प्रस्तुत करता है। मानव क्रियाकलापों के साथ संबंधित हुए बिना यह दुनिया संपूर्ण दुनिया नहीं बन सकती। वे मानव श्रम और उपलब्धियां जिनका मूल धरती से जुड़ा न हो, एक भावना तक नहीं, जिसे कोई नाम दिया जा सके। मानव के सब तरह के भोजन का स्रोत धरती ही है। यह उसे सतत शरण और सुरक्षा देती है। यह उसकी सब गतिविधियों के लिए कच्चा माल उपलब्ध कराती है। उसकी सभी आदर्श व मानवीय उपलब्धियों का घर भी यही है! ताप, प्रकाश व बिजली का महान स्रोत व क्षेत्र यही है। सागर, नदियों, पहाड़ों, मैदानों का महान दृश्यपटल भी यही है। हमारा तमाम कृषि, खनन, काष्ठकर्म, सभी तरह के उत्पादन व वितरण आदि इसका एक हिस्सा भर हैं। इस वातावरण द्वारा निर्धारित पेशों के आधार पर ही मानव ने अपनी ऐतिहासिक व राजनीतिक प्रगति की है। इन्ही पेशों के माध्यम से ही प्रकृति की भावनात्मक व बौद्धिक व्याख्या संभव हो सकी है। हम संसार में या उसके साथ जो कुछ करते हैं उसी से उसके अर्थ समझते हैं और उसकी कीमत आंकते हैं।

शिक्षा के संदर्भ में इसका मतलब यह है कि स्कूलों में ये पेशे सिर्फ रोजमर्रा के रोजगार के साधन या व्यावहारिक उपकरण न हों, जो महज एक अच्छा रसोइया, दर्जी या बढ़ई बनाते हैं। वे ऐसे केंद्र हों जो प्राकृतिक पदार्थो और क्रियाओं के लिए वैज्ञानिक अंतर्दृष्टि का विकास करें। जो बच्चों को मानव के ऐतिहासिक विकास से परिचित कराएं। इसका महत्व सामान्य चर्चा के बजाए उदाहरण से बेहतर तरीके से समझाया जा सकता है।

किसी सामान्य आने वाले के लिए दस,बारह और तेरह साल के लड़के-लड़कियों को सिलाई, बुनावट के काम में लगा देखना विचित्र प्रतीत हो सकता है। अगर हम बच्चों को इस तरह बटन टांकने या पैबंद लगाना सिखाने के उद्देश्य से यह करें तो हमें

एक संकीर्ण उपयोगी धारणा ही मिलेगी। एक ऐसा आधार जो स्कूल में इस तरह के काम को वरीयता देने का औचित्य सिद्ध नहीं करता। लेकिन अगर हम इसकी तरफ दूसरे दृष्टिकोण से देखें तो इससे बच्चे को मानव विकास के इतिहास को समझने में सहायता मिलती है। उस समय पदार्थों के उपयोग व इस्तेमाल की गई प्रक्रिया की गहन जानकारी मिलती है। इन पेशों के साथ संबंध बनाने से मानव के ऐतिहासिक विकास को फिर से दोहराया जाता है। उदाहरण के लिए बच्चों को पहले कच्चा माल दिया जाता है। उनको फ्लैक्स, कपास और ऊन दी जाती है। ऐसी ऊन जो भेड़ की पीठ से उतर कर सीधी आई हो। (अगर उनको वहां ले जाया जाए जहां भेड़ें मूंडी जाती हैं तो और भी अच्छा।) उसके बाद इनके उपयोग का अध्ययन कराया जाता है। उदाहरण के लिए कपास के रेशे और ऊन के रेशे की तुलना की जाती है। जब तक बच्चों ने बताया नहीं, मुझे खुद पता न था कि ऊन के मुकाबले सूत उद्योग के देर से विकसित होने का कारण यह था कि कपास के रेशे को हाथों से बीज से अलग करना ज्यादा मुश्किल होता है। बच्चों के एक ग्रुप ने बीज से कपास के रेशे को अलग करने के लिए आधा घंटा लगाया, तब भी उनको एक आउंस से कम कपास हाथ लगी। उन्होंने आसानी से समझ लिया कि एक जने को दिन भर में सिर्फ एक पाउंड ही मिल सकती थी। यही वजह थी कि हमारे पुरखे सूती के बदले ऊनी कपड़े पहनना ज्यादा पसंद करते थे। उनको इन दोनों के तुलनात्मक उपयोग का भी पता चला। उनकी समझ में आया कि ऊनी के मुकाबले सूती रेशा छोटा होता है। सूती रेशा लंबाई में एक इंच के दसवें हिस्से के बराबर है जबकि ऊनी रेशे की लंबाई एक इंच के करीब है। इसके अलावा सूती रेशा चिकना होने की वजह से एक-दूसरे के साथ आसानी से चिपकता नहीं जबकि ऊनी रेशा कुछ खुरदरा होने के कारण जरा मोटा भी होता है।

इससे कताई में आसानी रहती है। बच्चों ने वास्तविक कच्चे माल के साथ काम करके अपने आप यह सीखा। टीचर ने सवालों व सुझावों के जरीए उनकी मदद की।

उसके बाद उन्होंने रेशे से कपड़ा बनाने की प्रक्रिया शुरू की। उन्होंने ऊन को धुनने का अपनी तरीका निकाला। कुछ बोर्डों पर तीखी पिनें लगाकर उनसे इसे धुना। फिर उन्होंने ऊन से कपड़ा बनाने का सरल तरीका फिर से निकाला। उन्होंने ऊन को कातने का भी सरलतम तरीका खोजा। इसके लिए उन्होंने एक पत्थर में छेद करके या ऐसे ही किसी भार में छेद करके जुगाड़ बनाया। उसमें से ऊन को गुजार कर उसका रेशा तैयार किया। इसके बाद ऊन का एक सिरा हाथ में पकड़ कर लट्टू को घुमाकर उसे कातना सीखा। इसके बाद बच्चों को इतिहास के कालक्रम से अगली प्रक्रिया सिखाई गई। उन्होंने इसका प्रयोग करके इसकी आवश्यकता को समझा। उन्होंने केवल उद्योग पर ही नहीं, समाज के अन्य स्वरूपों पर भी इसके प्रभाव को जाना। यहां से चलकर उन्होंने आधुनिक लूम तक का सफर तय किया और जाना कि विज्ञान का इस्तेमाल हमारी वर्तमान ऊर्जा में कैसे होता है। इसमें मैं कई बातों की चर्चा करने की जरूरत नहीं समझता। मसलन रेशे का अध्ययन करना, भौगोलिक विशिष्टताएं, कच्चे माल के उत्पादन की स्थितियां, उत्पादन व वितरण के विशाल केंद्र, मशीनों व उत्पादन में भौतिकी का योगदान और इन सब आविष्कारों का मानव पर प्रभाव। आप समस्त मानव इतिहास को फ्लेक्स, ऊन और कपास के रेशे से कपड़ा बनाने की प्रक्रिया तक केंद्रित कर सकते हैं। मेरे कहने का मतलब यह नहीं कि यही एकमात्र या सर्वश्रेष्ठ केंद्र है। लेकिन यह निश्चय ही अति वास्तविक और महत्वपूर्ण है। इससे मानव जाति के इतिहास के आयाम खुलकर सामने आते हैं। ये राजनीति के या ऐतिहासिक कालक्रम के एकत्रित तथ्यों के संकलन से कहीं अधिक महत्वपूर्ण हैं।

कपड़े के इस एक उदाहरण के बारे में जो सच है (मैंने इसके एक-दो आरंभिक चरणों की ही चर्चा की है), हर पेशे में जिन चीज़ों का इस्तेमाल होता है, उन चीजों व उनके निर्माण की प्रक्रिया के बारे में भी यह उतना ही सच है।

पेशे की जानकारी बच्चे को वास्तविक उद्देश्य से परिचित कराती है। यह उसे इसका प्रत्यक्ष अनुभव कराती है। यह उसका वास्तविकता से साक्षात्कार कराती है। इसके अलावा यह उन्हें इसके ऐतिहासिक मूल्यों व वैज्ञानिक समतुल्यता का भी ज्ञान देती है। बच्चे के मस्तिष्क, ज्ञान व क्षमता के विकास के साथ-साथ यह महज एक दिलचस्प पेशा ही नहीं रह जाता। यह एक माध्यम, एक साधन, एक अवयव बन जाता है। इस प्रकार इसका रूपांतरण हो जाता है।

विज्ञान की शिक्षा पर इसका अपना प्रभाव पड़ता है। वर्तमान में सभी गतिविधियों को सफल होने के लिए किसी न किसी तरह से किसी वैज्ञानिक विशेषज्ञ से निर्देशित होना पड़ता है। यह प्रयुक्त विज्ञान का मामला है। इस संबंध के आधार पर ही शिक्षा में इसका स्थान निर्धारित होता है। स्कूल में पेशे की कथित दस्तकारी व औद्योगिक कार्य बच्चों को विज्ञान से परिचित कराते हैं। ये उनको पदार्थ के वास्तविक अर्थों का भान कराते हैं। इसके अलावा इससे उनको वह वैज्ञानिक अंतर्दृष्टि भी मिलती है जो उनके आधुनिक सामाजिक जीवन में स्वतंत्र विचरण का साधन बनती है। प्लेटो ने कहीं कहा है कि दास वह है जो अपने कार्यकलाप में अपने विचारों को प्रकट नहीं करता। वह किसी अन्य व्यक्ति के विचारों को प्रकट करता है। आज यह प्लेटो से भी अधिक गंभीर सामाजिक समस्या बन गई है। आज यह बहुत जरूरी है कि कामगार के चेतन में कार्य की प्रक्रिया, उद्देश्य और सूझबूझ हो। उसकी गतिविधि उसके लिए सार्थक हो।

जब स्कूलों में पेशे को इस विस्तृत व उदार धारणा के साथ

सिखाया जाता है तो मेरी समझ में नहीं आता कि इनका विरोध क्योंकर होता है। यह कैसे कहा जाता है कि ये पेशे स्कूल के लायक नहीं, क्योंकि ये भौतिकवादी, उपयोगितावादी और तुच्छ हैं। मुझे तो कई बार ऐसा लगता है कि इस तरह का विरोध करने वालों को किसी और दुनिया में जाकर बसना चाहिए। जिस दुनिया में हम रहते हैं वहां हरेक को कुछ न कुछ करने को होता है, उसका कोई न कोई पेशा होता है। कुछ मैनेजर होते हैं, कुछ उनके मातहत। लेकिन इसमें महत्व की बात यह है कि हरेक को दूसरे के प्रति इतना जानने-समझने की शिक्षा होनी चाहिए कि इसका मानव के प्रति क्या महत्व है। आज कितने कामगार उन मशीनों का हिस्सा बनकर रह गए हैं जिनको वे चलाते हैं। यह उस मशीन के कारण और शासन के कारण है जो उत्पादन को बहुत अधिक महत्व देता है। लेकिन इससे भी बड़ा कारण यह है कि उस कामगार को ऐसी कल्पना विकसित करने का अवसर नहीं मिला कि वह अपने काम के सामाजिक और वैज्ञानिक मूल्य को समझ सके। वर्तमान में औद्योगिक प्रक्रिया के मूल में जो अंत:प्रेरणा काम करती है, या तो उसकी अवहेलना की जाती है या फिर स्कूली शिक्षा के दौरान उसे विकृत किया जाता है। जब तक बचपन और युवावस्था में रचना और उत्पादन की प्रवृत्ति का विधिवत आधार नहीं बनाया जाता, जब तक उनको सामाजिक दिशा में प्रशिक्षित नहीं किया जाता, जिसमें ऐतिहासिक व्याख्या भी सन्निहित हो, जो वैज्ञानिक पद्धति से नियंत्रित हो, हम अपनी आर्थिक बुराइयों का निर्धारण भी नहीं कर सकेंगे। उनका समाधान करना तो दूर की बात है।

अगर हम कुछ शताब्दी पीछे चले जाएं तो देखेंगे कि शिक्षा की इजारेदारी थी। यह एक वर्ग का काम था। यह सामाजिक स्थितियों का परिणाम था। ऐसे साधनों का अभाव था जिनसे जनसाधारण बौद्धिकता के साधनों तक पहुंच सके। ये पांडुलिपियों

में एकत्रित थे और छिपा कर रखे जाते थे। इनका किसी भी तरह का उपयोग करने की प्रक्रिया जटिल और श्रमसाध्य थी। पांडित्य की विद्वता सत्य के इस खजाने को संभाल कर रखती थी। इसमें से वह जनसाधारण को बहुत सीमित ज्ञान ही देती थी। यह उन परिस्थितियों की अनिवार्य अभिव्यक्ति थी। लेकिन औद्योगिक क्रांति के सीधे परिणामस्वरूप यह सब बदल गया। मुद्रण का आविष्कार हुआ। इसका व्यावसायीकरण हो गया। पुस्तकें, पत्र-पत्रिकाएं बड़ी संख्या में छपने लगीं और सस्ती हो गईं। रेल इंजन और टेलीग्राफ आदि के कारण डाक व अन्य माध्यमों से संचार की गति बढ़ गई। इसकी लागत में कमी आई। बिजली का उपयोग भी होने लगा था। यात्रा आसान हो गई। आवागमन की स्वतंत्रता से विचारों के आदान-प्रदान में सहूलियत हुई। इसका परिणाम बौद्धिक क्रांति के रूप में सामने आया। शिक्षा का आम वितरण होने लगा। हालांकि तब भी और आज भी कुछ विशिष्ट प्रकार के ज्ञान का अर्जन विशिष्ट वर्ग ही करता है। यह एक कालदोष है। लेकिन ज्ञान अब एक स्थिर ठोस वस्तु नहीं रह गया। यह तरल हो गया है और अब समाज की हर धारा में प्रवाहित हो रहा है।

हम आसानी से देख सकते हैं कि ज्ञान की सामग्री से संबंधित इस क्रांति ने व्यक्ति की प्रवृत्ति में एक बहुत बड़ा परिवर्तन ला दिया है। बौद्धिकता के उद्दीपक हम पर कई तरह से अपनी वर्षा करते हैं। ज्ञान अर्जित करने और बुद्धिजीवी बनने के मूल्य अब बदल गए हैं। अब ये सम्मान की उपाधियां न होकर अकादमिक और विद्वत हो गए हैं।

इसके साथ ही स्कूल के प्रति हमारी प्रवृत्ति में परिवर्तन आवश्यक है जिसे हम पूरी शिद्दत के साथ महसूस नहीं कर रहे हैं। हमारी पढ़ाने की पद्धति और पाठ्यक्रम शिक्षा ग्रहण करने और धर्मसार का अधिकारी बन जाने का ही महत्व था। यही शिक्षा ग्रहण करने के माध्यम हुआ करते थे। आज के युग के

विचार भी अधिकांशतः नियंत्रित हैं। हालांकि शिक्षा के बाहरी तरीके बदल चुके हैं। कई बार हम प्राथमिक और माध्यमिक विद्यालयों में कला व विज्ञान की शिक्षा दस्तकारी के जरीए देने के विरोधी स्वर सुनते हैं। इस आधार पर कि इससे विशेषज्ञ बनने की प्रवृत्ति पनपती है लेकिन हमारी उदार संस्कृति की शिक्षा देने वाली योजनाओं से ये निम्न कोटि की है। विरोध का यह आधार हास्यास्पद ही है। दरअसल हमारी वर्तमान शिक्षा अति-विशेषज्ञता केंद्रित, एकांगी और संकीर्ण है। यह सीखने की मध्यकालीन धारणा से प्रभावित है। यह अधिकांशतः हमारी प्रकृति के बुद्धिजीवी भाग के अनुरूप है। यह हमारी अधिक जानकारी प्राप्त करने और शिक्षा के प्रतीकों पर नियंत्रण पाने की इच्छा के अनुरूप है। यह हमारी कला या उपयोगिता के रूप में कुछ बनाने या सृजन करने की प्रवृत्ति के अनुरूप नहीं। हस्तशिल्प की शिक्षा पर यह आपत्ति कि इससे केवल तकनीशियन और विशेषज्ञ बनाए जा सकते हैं, इस ओर इंगित करती है कि यह तो वही लक्ष्य है जो वर्तमान शिक्षा को नियंत्रित किए हुए है। बुद्धिजीवी बनाने की कोशिशों के साथ इसका तादात्म्य बैठता है। फिर तो इसकी आवभगत और स्वागत होना चाहिए।

पेशे की शिक्षा देने को एक विशेष प्रकार की संस्कृति माना जाता है। यह शिक्षा देने की उदार पद्धति है। मैकेनिक, संगीतज्ञ, डाक्टर, वकील, किसान, व्यापारी, रेलवे प्रबंधक बनाने के तकनीकी व पेशेगत प्रशिक्षण हैं। इसका नतीजा हम सब कहीं देखते हैं। 'सुसंस्कृत लोगों' और 'कामगारों' के रूप में। सिद्धांत और व्यवहार के अंतर के रूप में। स्कूल की कुल संख्या का मुश्किल से एक प्रतिशत उच्च शिक्षा ग्रहण करता है। केवल पांच प्रतिशत माध्यमिक स्तर पर पहुंचते हैं। आधे से अधिक तो प्राथमिक शिक्षा के पांचवें वर्ष के बाद ही पढ़ाई छोड़ देते हैं। इसका सीधा सा कारण यह है कि मानव जाति में अधिकांश में विशिष्ट बुद्धिजीवी बनना

महत्वपूर्ण नहीं है। उनमें कथित व्यावहारिक प्रवृत्ति और स्वभाव होता है। बहुत से ऐसे लोगों को भी, जिनमें बुद्धिजीवी बनने की इच्छा होती है, सामाजिक स्थितियां इस लक्ष्य तक नहीं पहुंचने देतीं। फलस्वरूप विद्यार्थियों की बहुत बड़ी संख्या पढ़ना, लिखना, हिसाब करना सीख लेने के बाद स्कूल छोड़ देती है। यही उनके जीवन यापन में व्यावहारिक आवश्यता की चीजें होती हैं। हमारे शिक्षाशास्त्री संस्कृति, व्यक्तित्व विकास आदि को शिक्षा का अंतिम उद्देश्य मानते हैं। जबकि स्कूल से निकलने वाले अधिकांश इसे सीमित व्यावहारिक साधन समझते हैं जिसके बल पर वे रोजी-रोटी कमाने लायक बन जाते हैं। अगर हम अपनी शिक्षा के लक्ष्य को कम विशिष्ट तौर पर निर्धारित करें, अगर हम इसमें वे सब व्यावहारिक तरीके शामिल करें जो बहुसंख्या की कुछ करने या बनने की दिलचस्पी के मुताबिक हों, तो हम देखेंगे कि स्कूल का अपने विद्यार्थियों पर प्रभाव दीर्घ अवधि तक, अधिक जीवंत और सांस्कृतिक होगा।

लेकिन मुझे इसकी व्याख्या के लिए इतना परिश्रम करने की क्या जरूरत है! सच्चाई तो प्रत्यक्ष है कि हमारे सामाजिक जीवन में बहुत बड़ा परिवर्तन आ चुका है। अगर शिक्षा को जीवन के लिए सार्थक बनाना है तो इसे भी बहुत बदलना होगा। यह परिवर्तन एकाएक नहीं हो सकता। यह किसी सचेतन प्रयास से एकाएक लागू नहीं किया जा सकता। यह आज भी प्रगति पर है। स्कूल की शिक्षा पद्धति में वे संशोधन, जो केवल (उनको भी जो उससे बहुत सक्रिय संबंध रखते हैं) तफसील में बदलाव मालूम पड़ते हैं, स्कूल के तंत्र में सुधार से लगते हैं, असल में विकास के लक्षण और प्रमाण हैं।

प्रकृति के अध्ययन, विज्ञान, कला, इतिहास से संबंधित पेशों के सक्रिय अध्ययन, केवल प्रतीकात्मक और औपचारिक अध्ययन को द्वितीय स्थान देना, स्कूल के नैतिक वातावरण में परिवर्तन,

छात्रों और टीचर के संबंधों में अनुशासन में परिवर्तन, अधिक सक्रिय, स्वनिर्देशित घटकों को सम्मिलित करना–ये केवल सहसा होने वाली घटनाएं नहीं हैं। ये बृहत्तर सामाजिक विकास की आवश्यकताएं हैं। अब जरूरत है इन घटकों को संगठित करने की। इनके अर्थों को अपनी संपूर्णता में समझने की। इन विचारों को हमारे स्कूल की शिक्षा पद्धति में पूर्णतः शामिल करने की। ऐसा करने का मतलब होगा हमारे हरेक स्कूल को सामुदायिक जीवन का भ्रूण रूप देना। उन सब पेशों की सक्रियता देना जो हमारे सामाजिक जीवन का अंग हैं। जो कला, विज्ञान और इतिहास की भावना से परिपूर्ण हों। जब स्कूल समाज के हर बच्चे को सदस्यता का ऐसा पाठ पढ़ाएंगे और उसमें सेवाभाव कूट-कूट कर भरेंगे तो यह हमारे समाज को योग्य, प्रिय व सामंजस्यपूर्ण बनाने की गारंटी होगी।

2

स्कूल और बच्चे का जीवन

पिछले सप्ताह मैंने आपके सामने स्कूल और समाज के बृहत्तर जीवन के संबंधों पर अपने विचार रखे। स्कूल की शिक्षा पद्धति और उपकरणों की आवश्यकता बताई ताकि उसे वर्तमान सामाजिक आवश्यकताओं के अनुरूप बनाया जा सके।

आज मैं इसके दूसरे पहलू पर चर्चा करूंगा। यह है स्कूल में बच्चों के जीवन और विकास से स्कूल का संबंध। छोटे बच्चों के साथ किसी सिद्धांत को जोड़ना बहुत मुश्किल होता है। इसलिए मैंने यूनिवर्सिटी एलीमेंट्री स्कूल से बहुत सी प्रदर्शनीय सामग्री ली है। विचारों को वास्तविक व्यवहार में लाने पर क्या होता है, एलिमेंट्री स्कूल में आप देखेंगे कि यह किसी हद तक उपलब्ध है।

कुछ दिनों पहले मैं शहर के स्कूल को सप्लाई देने वाले स्टोरों में झांक रहा था। ऐसे डेस्क और कुर्सियां खोज रहा था जो सब तरह से बच्चों की आवश्यकता के अनुकूल हों और कलात्मक, साफ-सुथरी व पढ़ाई के लायक हों। हमें जो चाहिए था, उसे खोजने में काफी कठिनाई हुई। अंततः एक दुकानदार ने, जो दूसरों से अधिक समझदार था, कहा, ''मेरे ख्याल से जो आपको चाहिए वह हमारे पास नहीं है। आप कुछ ऐसा चाहते हैं जिस पर बच्चे काम कर सकें। ये सब सुनने के लिए हैं।'' इसमें परंपरागत

शिक्षा की सारी कहानी आ जाती है। जिस तरह से एक जीववैज्ञानिक एक-दो हड्डियों की मदद से पूरा जानवर बना लेता है, इसी तरह अगर हम दिमाग में स्कूल के साधारण कमरे का नक्शा रखें तो पाएंगे कि वहां भद्दे डेस्कों की कतार है, जिसे ज्यामितीय तरीके से रखा गया है। वे ऐसे इकट्ठे रखे गए हैं कि इधर-उधर जाने की जगह ही नहीं है। सभी डेस्क लगभग एक ही आकार के हैं। इन पर किताबें और कागज-पेंसिल रखने भर की जगह है। इसमें एक मेज और कुछ कुर्सियां जोड़ दीजिए। उसके साथ खाली दीवारें या फिर उन पर कुछ तस्वीरें। ऐसी जगह में हम एक ही तरह की शिक्षण गतिविधि का अनुमान कर सकते हैं। यह सब ''सुनने'' के लिए बना है। किसी किताब से पाठ पढ़ना भी एक तरह का सुनना ही है। इसमें एक दिमाग दूसरे पर आश्रित रहता है। इसे स्कूल के अधीक्षक, बोर्ड या टीचर ने तैयार किया है। बच्चे को इसमें से जितना हो सके कम से कम समय में ग्रहण करना है।

परंपरागत स्कूल की किसी कक्षा में बच्चे के काम करने की बहुत ही कम गुंजाइश होती है। वहां कार्यशाला, प्रयोगशाला, सामग्री और औजार, जिनसे कि बच्चा कुछ बना सके, सक्रिय रूप से कुछ पूछ सके, और इसके लिए पर्याप्त स्थान—इन सब का प्रायः अभाव ही रहता है। इस क्रिया के लिए जिन चीजों की जरूरत पड़ती है, उनको शिक्षा में एक निश्चित मान्यता ही नहीं मिली। समाचार पत्रों में संपादकीय लिखने वाले शिक्षाशास्त्री इनको 'झक' या 'सजावटी झालर' जैसी चीज समझते हैं। कल मुझे एक महिला ने बताया कि वह कई स्कूलों में जाती रही हैं। यह देखने के लिए कि कोई ऐसा स्कूल हो जिसमें टीचर के जानकारी देने से पहले बच्चों के लिए कुछ गतिविधि हो। या जहां बच्चे के लिए जानकारी पाने के लिए कोई प्रयोजन हो। वह 24 अलग-अलग स्कूलों में गईं तब कहीं जाकर उनको एक ऐसा

स्कूल मिला। मैं यहां यह और बताना चाहूंगा कि वह स्कूल इस शहर में नहीं था।

एक और बात जो डेस्कों की कतारों वाली स्कूलों की इन कक्षाओं से पता चलती है, वह यह है कि यहां अधिक से अधिक संख्या में बच्चों को सिखाने के लिए पूरा इंतजाम है। यहां काफी बड़ी संख्या में बच्चों को पढ़ाया जा सकता है। एक बड़ी इकाई के तौर पर। इसका फिर यही मतलब होता है कि उनको निष्क्रिय रहना होगा। अगर बच्चे सक्रिय होते हैं तो वे व्यक्ति बन जाते हैं। वे भीड़ रहते। वे विभिन्न हो जाते हैं। जैसाकि हम उनको स्कूल के बाहर घर, परिवार, खेल के मैदान या पास-पड़ोस में देखते हैं।

इसी आधार पर हम पढ़ाने के तरीके और पाठ्यक्रम के एकसार होने की व्याख्या कर सकते हैं। जब हर चीज सुनने के आधार पर होगी तो आप पढ़ाने के तरीके और सामग्री को एक सा रख सकते हैं। कान और किताब जो कि कान की परावर्ती है, इसका माध्यम बनती है जो सब के लिए एक सी होती है। अलग-अलग क्षमताओं व मांगों के लिए उसमें विभिन्नता की कोई गुंजाइश नहीं होती। वहां एक निश्चित मात्रा में एक निर्धारित समय के अंदर हर बच्चे को एक तैयारशुदा परिणाम देना होता है। इसी मांग पूर्ति के लिए प्राथमिक स्कूल से लेकर कालेज तक पाठ्यक्रम विकसित किया जाता है। संसार में बहुत कुछ जानने योग्य ज्ञान और अर्जित करने योग्य तकनीकी योग्यताएं है। फिर इनको छः, बारह या सोलह साल के स्कूली जीवन में विभाजित करने की समस्या सामने आती है। बच्चे को हर साल इस विभाजन का औसत हिस्सा देना होता है। जब वे पढ़ाई पूरी कर चुके हों तो वे सारे के सारे में महारत हासिल कर चुके होते हैं। इस तरह घंटों, दिनों, हफ्तों या सालों में वह इसे पूरा कर लेते हैं बशर्ते वह पिछला पढ़ा भूल न गए हों। इस सब का नतीजा वह है जो मैथ्यू

आर्नोल्ड को दी गई रिपोर्ट में बड़े गर्व से पेश किया गया था। इसमें बताया गया था कि एक निश्चित घंटे में फ्रांस में इतने हजार बच्चे अमुक विषय पढ़ रहे थे। कहिए ग्यारह बजे भूगोल का अध्ययन कर रहे थे। हमारे अपने पश्चिमी नगरों में भी सुपरिंटेंडेंट आगंतुकों से गर्व के साथ कुछ ऐसा ही दोहराते रहे हैं।

शिक्षा के पुराने तरीकों को स्पष्ट करने के लिए मैं शायद कुछ ज्यादा ही कह गया होऊंगा जो इसकी निष्क्रिय, इसकी बच्चों को यांत्रिक तरीके से एकत्र करके पढ़ाने, इसके पाठ्यक्रम व पढ़ाने के तरीके की एकरूपता के बारे में है। इसका सार संक्षेप यह है कि गुरुत्व केंद्र बच्चे के बाहर है। वह टीचर, पाठ्य पुस्तक में या अन्यत्र कहीं है। सिवाय बच्चे की प्रवृत्ति और गतिविधियों के। इस आधार पर बच्चे के जीवन के बारे में अधिक नहीं कहा जा सकता। अलबत्ता उसके अध्ययने के बारे में बहुत कुछ कहा सकता है। लेकिन स्कूल तो वह स्थान नहीं जहां बच्चा रहता है। अब हमारी शिक्षा में जो परिवर्तन आ रहा है वह गुरुत्व केंद्र को बदलने को लेकर है। यह एक परिवर्तन, एक क्रांति है। यह कोपरनिकस के उस परिवर्तन से भिन्न नहीं जब खगोल का केंद्र पृथ्वी से बदल कर सूर्य हो गया था। इस मामले में बच्चा वह सूर्य है जिसके गिर्द शिक्षा के उपकरण चक्कर काटते हैं। बच्चा वह केंद्र है, जिसको लेकर उनको व्यवस्थित किया जाता है।

अगर हम एक आदर्श घर का उदाहण लें जहां माता-पिता समझदार हों। वे बच्चे के लिए जो सर्वश्रेष्ठ है उसका प्रबंध करते हों। वे उसे वह सब देते हों जो चाहिए। तो हम देखेंगे कि बच्चा परिवार के आदान-प्रदान और संरचना से काफी कुछ सीखता है। वहां होने वाली बातचीत में बहुत से बिंदु उसके लिए दिलचस्प और मूल्यवान होते हैं। वहां बातें होती हैं। कुछ पूछा जाता है। कई विषयों पर चर्चा होती है। बच्चा इनसे निरंतर

सीखता है। वह अपने अनुभव बताता है। वहां बातें होती हैं। उसकी भ्रांतियों का निराकरण किया जाता है। बच्चा घर के कामों में हिस्सा लेता हैं। इससे उसमें परिश्रम और व्यवस्था की आदतें पनपती हैं। वह दूसरों के विचारों व अधिकारों का आदर करना सीखता है। वह अपनी गतिविधियों को परिवारों के सामान्य हित के अधीन करने की मूलभूत आदत विकसित करता है। घर के कामों में हाथ बंटाना उसे ज्ञान अर्जित करने का अवसर देता है। आदर्श घर में एक कार्यशाला भी होगी जहां बच्चा अपनी सर्जनात्मक प्रवृत्ति विकसित करता है। वहां एक लघु प्रयोगशाला हो सकती है जहां वह अपनी जिज्ञासा शांत कर सकता है। बच्चे का जीवन घर से बाहर बगीचे तक विस्तार पा सकता है। वह आसपास के खेतों या जंगल तक के बाहर की दुनिया उस पर खुलती है।

अब अगर हम इसको व्यवस्थित करके उसका सामान्यीकरण कर लें तो वह एक आदर्श स्कूल होगा। इसमें कोई रहस्य की बात नहीं। यह किसी शिक्षा सिद्धांत की आश्चर्यजनक खोज भी नहीं। यह तो उस चीज को अधिक व्यवस्थित और व्यापक तरीके से करना है जो किसी घर में छोटे पैमाने पर कम व्यवस्थित तरीके से होता है। सबसे पहले हमें एक आदर्श घर का विस्तार करना है। बच्चे को और ज्यादा बड़े लोगों के संपर्क में लाना चाहिए ताकि उन सबको अधिक समृद्ध सामजिक जीवन मिले। घर के वातावरण और काम को विशेष रूप से बच्चे के विकास के लिए नहीं चुना जाता। उसका मुख्य उद्देश्य कुछ और होता है। बच्चा उसमें से क्या पाता है यह संयोगवश है। इसलिए हमें स्कूल की जरूरत होती है। स्कूल में बच्चे का जीवन ही नियामक लक्ष्य होता है। बच्चे के विकास के सभी साधन वहां एकत्रित होते हैं। सीखना? निश्चय ही। लेकिन उसे व्यवस्थित करते हैं तो वह श्रोता मात्र नहीं रह जाता, बल्कि इसका उलट होता है।

अक्सर कहा जाता है कि शिक्षा का उद्दश्य बच्चे की क्षमताओं

को 'बाहर निकालना' होता है। यह बहुत अच्छी बात है। बशर्ते हम घोटकर पिलाने के विपरीत अर्थों में इसका प्रयोग करें। वह तो अपनी सारे क्रियाकलाप को पहले ही चारों तरफ बिखेर रहा होता है, उंडेल रहा होता है। वह कोई ऐसा छिपा, दबा हुआ नहीं होता जिसे कोई वयस्क क्रियाकलाप के जरासीम उसमें से बाहर निकालने के लिए बहुत सावधानी से छुए। बच्चा तो पहले ही बहुत अधिक सक्रिय होता है। शिक्षा का मतलब उसकी गतिविधियों का जिम्मा लेना, उनको दिशा देना है। निर्देश और व्यवस्थित उपयोग से उनमें इधर-उधर बिखरने के बजाए मूल्यवान परिणाम देने का रुझान आता है।

अगर हम इस बात को ध्यान में रखें तो नई शिक्षा के बारे में लोग जो कठिनाई अनुभव करते हैं, उसका न केवल समाधान मिल जाएगा, वह पूरी तरह उड़नछू भी हो जाएगी। अक्सर पूछा जाता है कि अगर आम बच्चे के विचारों, प्रवृत्तियों से शुरुआत करते हैं, जोकि बहुत अनगढ़, छितराई हुई, बहुत कम परिष्कृत होती हैं, तो आप वांछित अनुशासन, संस्कृति और जानकारी के लक्ष्य तक कैसे पहुंच सकते हैं? अगर हमारे पास बच्चे की प्रवृत्तियों को उकसाने के अलावा और कोई रास्ता न होता तो यह सवाल पूछा जा सकता था। तब या तो हम उसकी गतिविधियों को नजरअंदाज कर सकते थे, उनका दमन कर सकते थे या फिर उनको संतुष्ट कर सकते हैं। लेकिन अगर हमारे पास उपकरणों व सामग्री की व्यवस्था हो तो हमारे सामने एक और रास्ता है। तब हम बच्चे की गतिविधियों को एक निश्चित दिश की ओर मोड़ सकते हैं। तब हम उस लक्ष्य तक पहुंच सकते हैं जो उस मार्ग के तर्कसम्मत आखिरी छोर पर है।

'अगर इछाएं घोड़े हों तो भिखारी भी उन पर सवारी करें।' पर चूंकि ऐसा नहीं है इसलिए किसी प्रवृत्ति या रुचि को संतुष्ट करने का मतलब है उसका समाधान खोजना। इसका अर्थ है

बाधाओं का सामना करना। इसके लिए सामग्री की जानकारी, प्रवीणता का प्रयोग करने, धैर्य, निरंतर, सतर्कता आदि की जरूरत पड़ती है। इसके लिए ज्ञान प्रदान करने वाले अनुशासन की जरूरत पड़ती है। एक छोटे बच्चे का उदाहरण लेते हैं। यह बच्चा एक बाक्स बनाना चाहता है। अगर वह अपनी कल्पना या इच्छा से पूर्व ही रुक जाता है तो उसे वह महारत नहीं हासिल होगी। लेकिन अगर वह अपनी प्रवृत्ति पूर्ण करने का प्रयास करता है तो वह अपने विचार को निश्चितता प्रदान करता है। वह उसके लिए योजना बनाता है कि सही तरह की लकड़ी हासिल करे, जिन भागों की आवश्यकता हो उनका नाप लेता है, उनको आवश्यक अनुपात देता है आदि। इसमें सामग्री तैयार करना, आरी से चीरना, रंदा लगाना, रेगमाल लगाना, सभी कोनों और किनारों को फिट बैठने लायक बनाना आदि शामिल है। इसके लिए औजारों व बनाने के तरीके की जानकारी अनिवार्य है। अगर बच्चा अपनी आकांक्षा के अनुरूप बाक्स बना लेता है तो उसे अनुशासित होने का पर्याप्त अवसर मिलता है। वह कठिनाइयों को दूर करने का प्रयास करना सीखता है। वह जानकारी हासिल करना भी सीखता है।

इसी तरह एक छोटा बच्चा जो खाना बनाना चाहता है, उसे कुछ नहीं पता होता कि इसका मतलब क्या है, इस पर क्या लागत आएगी और इसके लिए क्या-क्या चाहिए। यह उसकी कुछ करने की इच्छा मात्र होती है। शायद बड़ों की नकल करने की इच्छा। हमारे लिए उसकी इच्छा की कद्र करते हुए उसके स्तर तक उतरना सहज संभव है। यहां भी अगर उसकी प्रवृत्ति पर आचरण किया जाता है तो उसका सामना जीवन की कठिन स्थितियों से होता है जिनके अनुरूप उसे अपने को ढालना ही होता है। इससे उसमें अनुशासन आता है और जानकारी भी बढ़ती है। हाल ही में एक बच्चा लंबे तरीके और प्रयोगों से अधीर हो

गया। उसने कहा, "हम इतने परेशान क्यों हो रहे हैं। हमें किसी कुकरी की किताब की रेसिपी के मुताबिक पकाना चाहिए।" इस पर टीचर ने बच्चों से पूछा कि रेसिपी कहां से आई? बातचीत से स्पष्ट हो गया कि अगर वे इस तरीके पर चलेंगे तो कभी समझ नहीं पाएंगे कि वे जो कुछ कर रहे हैं उसका कारण क्या है। तब वे प्रयोगात्मक काम करने को खुशी से राजी हो गए। उनके काम पर ध्यान देने से हमें यह बात और स्पष्ट हो जाएगी। उस दिन वे अंडे पका रहे थे। यह उनका सब्जियां पकाने से गोश्त पकाने की ओर जाने का कदम था। ऐसा करने के लिए उन्होंने पहले सब्जियों के भोजन तत्वों की गोश्त के तत्वों से तुलना की। उन्होंने देखा कि सब्जी के रेशे और गोश्त के रेशे में कुछ समानता है। इससे उनको रूप आकार मिलता है। उन्होंने देखा कि सब्जियों में स्टार्च और स्टार्च वाले उत्पाद होते हैं। दोनों में मिनरल साल्ट समान रूप से पाए जाते हैं। दानों में वसा भी होती है। सब्जियों में यह बहुत कम मात्रा में होती है, गोश्त में काफी होती है। इसके बाद उन्होंने सब्जियों के स्टार्च के मुकाबले गोश्त की सफेदी का अध्ययन किया। इस प्रयोग के लिए उन्होंने अंडे की सफेदी का सहारा लिया।

अपने प्रयोग में उन्होंने पहले विभिन्न तापमानों पर पानी लिया। उन्होंने देखा कि पानी कब सिमसिमाता है, कम गर्म होता है और कम उबलता है। उन्होंने यह भी देखा कि पानी के इन विभिन्न तापमानों का अंडे की सफेदी पर क्या असर पढ़ता है। इससे वे न सिर्फ अंडा पकाने की विधि सीख पाए बल्कि उसके सिद्धांत को समझ गए। मैं इस घटना की व्यापकता को नजरअंदाज नहीं करना चाहता। बच्चे को यह सिखाना कि वह अंडा तीन मिनट के लिए पानी में डाल दे, और फिर उसे बताना कि अब निकाल ले, उसे सिखाना नहीं है। लेकिन बच्चा अगर खुद उसमें निहित तथ्यों को समझे और पहचाने और अपनी प्रवृत्ति को

उसके अनुरूप ढाले तो उसका ज्ञान बढ़ेगा। यही वह अंतर है जिस पर मैं जोर देना चाहता हूं। एक रुचि को जगाना और निर्देश से उसे पूरा करना।

बच्चे की एक और प्रवृत्ति कागज-पेंसिल के इस्तेमाल की होती है। सभी बच्चे आकार और रंगों के माध्यम से खुद को अभिव्यक्त करना चाहते हैं। अगर आप बच्चे को सिर्फ इसमें लगे रहने दें तो उसका विकास आकस्मिक ही होगा। लेकिन पहले आप बच्चे को अपनी प्रवृत्ति को अभिव्यक्त करने दें। उसके बाद आलोचना, प्रश्न पूछने और परामर्श से उसे आगाह करें कि उसने क्या किया है और उसे क्या करना चाहिए। इसका परिणाम बिलकुल भिन्न होगा। यहां हम एक सात साल के बच्चे के काम का उदाहरण लेते हैं। यह सामान्य काम नहीं है। यह छोटे बच्चों के किए सर्वश्रेष्ठ कामों में से एक है। लेकिन इससे उस सिद्धांत का स्पष्टीकरण होता है जिसकी मैं चर्चा कर रहा हूं। ये बच्चे उस समय के सामाजिक जीवन की चर्चा कर रहे थे जब आदि मानव गुफाओं में रहते थे। बच्चे की राय उस विषय में किस तरह से बनाए जाते हैं। एक ऊर्ध्व रेखा और उसके बाद शाखाओं के लिए समानान्तर रेखाएं। अगर बच्चे को दिन-दिन यही करते रहने दिया जाए तो वह अपनी प्रवृत्ति में लगा रहेगा लेकिन उसका अभ्यास नहीं कर रहा होगा। लेकिन अब बच्चे से कहा गया कि वह पेड़ को ध्यान से देखे और उसकी अपने चित्र से तुलना करे। वह अपनी काम की स्थितियों का और गहराई से व ध्यान से निरीक्षण करे। फिर उसने अपने अवलोकन के आधार पर पेड़ का चित्र बनाया।

अंततः उसने संयुक्त अवलोकन के आधार पर चित्र बनाया। इसमें उसने अपनी स्मरणशक्ति और कल्पना दोनों का इस्तेमाल किया। उसने फिर एक स्वतंत्र चित्र बनाया। इसमें उसकी अपनी कल्पना की अभिव्यक्ति थी। लेकिन वह देखे गए वास्तविक पेड़ों

के ब्योरे से नियंत्रित थी। इसका परिणाम ऐसे चित्र में हुआ जो किसी जंगल के हिस्से की तरह था। मेरे विचार में उसमें वही कवित्व की भावना थी जो किसी वयस्क के काम में होती है। जबकि साथ ही उसके पेड़ मात्र प्रतीकात्मक नहीं थे।

अगर हम स्कूल में उपलब्ध प्रेरकों का वर्गीकरण करें तो हम उनको चार भागों में विभक्त कर सकते हैं। इनमें बच्चों की सामाजिक प्रवृत्ति होती है जो उनकी बातचीत, पस्पर विचार-विमर्श और संवाद में प्रकट होती है। हम जानते हैं कि चार या पांच वर्ष की आयु में कोई बच्चा कितना आत्मकेंद्रित होता है। अगर उसके सामने कोई नया विषय लाया जाए और वह कुछ न कहे तो इसका अर्थ होता है, ''उसका क्षितिज बहुत व्यापक नहीं। कोई भी अनुभव उसकी समझ में आना चाहिए। वह उसमें दिलचस्पी लेगा जब उसका संबंध दूसरों से या द्रष्टा से जोड़ सके। फिर भी छोटे बच्चों की इस सीमित दिलचस्पी के विकास की अनंत संभावनाएं हैं। भाषा की प्रवृत्ति बच्चे की सामाजिक अभिव्यक्ति का सबसे सरल स्वरूप है। इसलिए यह शिक्षा का महान साधन है। शायद सब साधनों से महान।

इसके बाद कुछ बनाने की प्रवृत्ति आती है--सर्जनात्मक प्रेरणा। बच्चा पहले खेलने में अपने आप को अभिव्यक्त करने को प्रेरित होता है। अपनी गतिविधियों, संकेतों, ढोंग के माध्यम से। फिर वह और निश्चितता की ओर कदम बढ़ाता है। वह सामग्री से ठोस आकार बनाकर उनको स्थायी स्वरूप देता है। बच्चे में अमूर्त के लिए बहुत अधिक जिज्ञासा नहीं होती। उसकी जानने की प्रवृत्ति का विकास सर्जनात्मक प्रेरणा और संवाद के योग से होता है। छोटे बच्चों के लिए प्रयोगात्मक विज्ञान और बढ़ई की कार्यशाला में कोई अंतर नहीं होता। जो कुछ वे भौतिकी या रसायनशास्त्र की प्रयोगशाला में करते हैं, वह सामान्य तकनीकी सृजन या अमूर्त सत्य तक पहुंचने के लिए नहीं होता। बच्चे तो

कुछ करना चाहते हैं और फिर देखना चाहते हैं कि क्या हुआ। इसका लाभ उठाया जा सकता है। इसे ऐसी दिशा में निर्देशित किया जा सकता है जहां कुछ मूल्यवान परिणाम निकलते हों। जबकि निरुद्देश्य कार्य करने की अनुमति भी रहती है।

बच्चों में अभिव्यक्ति की प्रवृत्ति का विकास उनकी सर्जनात्मक प्रवृत्ति और संवाद के माध्यम से होता है। इससे उनमें परिष्कार आता है और वे स्वयं को पूर्णतः अभिव्यक्त करते हैं। वे अपने सृजन को पर्याप्त, पूर्ण, स्वतंत्र, लचीला बनाते हैं। उसमें सामाजिक उद्दश्य होता है। कुछ बताने लायक होता है। वह कलात्मक रचना होती है। वस्त्र बनाने के काम का एक उदाहरण लेते है। बुनाई और सिलाई का उदाहरण। बच्चे अपनी कार्यशाला में एक आदिम लूम बनाते हैं। इसमें सर्जनात्मक प्रवृत्ति का इस्तेमाल होता है। फिर वे उस लूम के साथ कुछ करना चाहते हैं। इससे कुछ बनाना चाहते हैं। यह इंडियन लूम की तरह का था। उनको इंडियन्स के बुने कंबल दिखाए गए। हरेक बच्चे ने उन कंबलों के डिजाइनों के अनुरूप डिजाइन बनाए। इनमें से सबसे अच्छे हस्तशिल्प के काम को चुना गया। तकनीकी साधन बहुत सीमित थे। फिर भी बच्चों ने आकार व रंग भरने का काम बखूबी किया। जो उदाहरण हमने दिया वह बारह साल के बच्चों का था। परीक्षण से पता चला कि यह काम करने के लिए धैर्य, आश्चर्य, परिरक्षण की आवश्यकता होती है। इसमें न सिर्फ ऐतिहासिक व तकनीकी शिक्षण व जानकारी ग्रहण करना शामिल था बल्कि एक विचार की कलात्मक अभिव्यक्ति की भावना भी थी।

सृजन के साथ कला के संबंध का एक और उदाहरण लेते हैं। बच्चे आदिम धुनाई का अध्ययन कर रहे थे। उनमें से एक बारह साल के बच्चे ने एक बड़े बच्चे का कताई करते हुए चित्र बनाया। यह ऐसी कलाकृति थी जो औसत न थी। यह औसत से बेहतर थी। यह दो हाथों का चित्र था जो कातने के लिए ऊन

तैयार कर रहे थे। यह काम एक ग्यारह साल के बच्चे ने किया था। सामान्यतः अपेक्षाकृत छोटे बच्चों में कला की प्रवृत्ति कुछ बताने या प्रस्तुत करने की सामाजिक प्रेरणा से संबंधित होती है। अब संवाद या संप्रेषण, जिज्ञासा, चीजों का पता लगाना और वस्तुए बनाना या सृजन, इन चारों दिलचस्पियों को ध्यान में रखते हुए हम कह सकते हैं कि ये प्राकृतिक संसाधन हैं। ये वैश्विक पूंजी हैं। इनके अभ्यास पर बच्चे का विकास निर्भर करता है। मैं दो-एक उदाहरण देना चाहूंगा। पहला सात साल के बच्चों के काम से है। इससे बच्चे की बातचीत करने की उत्कट इच्छा का पता चलता है। खासतौर पर सामान्य जन से संबंधित उनके उपयोग की वस्तुओं के बारे में। अगर आप छोटे बच्चों पर ध्यान दें तो आप पाएंगे के वे ऐसी चीजों में दिलचस्पी दिखाते हैं जो मुख्यतः सामान्य जन से संबंधित हों। जो मानव चिंतन की पृष्ठभूमि व माध्यम हों। बहुत से नृविज्ञानी हमें बताते हैं कि बच्चों की दिलचस्पी और आदिम जीवन में बहुत सी समानताएं मिलती हैं। बाल मस्तिष्क स्वभावतः आदिम जीवन की गतिविधियों की पुनरावृत्ति करता है। बच्चा अहाते में जो झोंपड़ी बनाना चाहता है आप उसे देखें। वह झोंपड़ी, धनुष बाण और बरछियों की पुनरावृत्ति करता है। वह झोंपड़ी, धनुष बाण और बरछियों आदि से खेलता है। यह सवाल फिर हमारे सामने आता है: हमें इस दिलचस्पी के साथ क्या करना चाहिए? क्या हम उसे नजरअंदाज कर दें? या फिर बच्चे को उत्साहित करके उसकी अभिव्यक्ति होने दें? या फिर हम उसे किसी बेहतर वस्तु की ओर निर्देशित करें? हमने अपने सात साल के बच्चों के लिए जो काम चुने उनके पीछे यही बाद वाला उद्देश्य था कि उनकी दिलचस्पी का ऐसा इस्तेमाल किया जाए जिससे मानव जाति का विकास हो। बच्चों ने शुरुआत वर्तमान स्थितियों के वंचित होने की कल्पना के साथ की जब तक कि उनका प्रकृति से सीधा संपर्क नहीं हो गया। इस तरह वे

शिकार करने वाले और गुफाओं में या पेड़ों पर रहने वाले मानव तक पहुंच गए जो शिकार करके या मछली पकड़ कर कठिन स्थितियों में जीवन बिताता था। उन्होंने यथासंभव उस समय की प्राकृतिक भौतिक स्थितियों की कल्पना की जिनमें उस समय का मानव रहता होगा। पहाड़ों के पास पहाड़ी या जंगली ढलानों और नदी जिसमें मछलियां बहुतायत में पाई जाती हों। उसके बाद वे अपनी कल्पना में शिकार से अर्धकृषि के युग तक पहुंचे। फिर खानाबदोशों से बस्ती बनाकर रहने वाली कृषि सभ्यता तक पहुंचे। जो बात मैं कहना चाहता हूं वह यह है कि इस तरह बच्चों को वास्तविक अध्ययन के लिए पर्याप्त अवसर मिल जाते हैं। ऐसी जिज्ञासा उठती है जिससे जानकारी मिलती है। यह प्रवृत्ति आधारभूत रुप से सामाजिकता की तरफ होती है लेकिन बच्चे की लोगों और उनके कार्यकलाप में दिलचस्पी उनको संसार की बृहद् वास्तविकता की ओर ले जाती है। उदाहरण के लिए बच्चे को आदिम हथियारों की कुछ जानकारी मिलती है। सिरे पर पत्थर लगे तीर आदि। इससे उनको पदार्थों की जांच का अवसर मिला। उनकी भंगुरता, आकार, बनावट आदि के बारें में। उन्होंने विभिन्न पत्थरों को जांचा कि इस काम के लिए कौन सा उपयुक्त है। इस तरह उनको खनन विद्या का पाठ मिला। लौह युग पर चर्चा का परिणाम एक बड़े आकार की पिघलाने वाली मिट्टी के रूप में सामने आया। बच्चों को शुरू में प्रारूप नहीं मिला था। इसलिए भट्ठी के मुंह और हवाकश में सही अनुपात वे नहीं रख पाए। न ही उनके आकार और स्थिति को सही रख सके। इसके लिए दहन, ईंधन के स्वरूप और प्रारूप आदि के मूल सिद्धांत की जानकारी जरूरी थी। फिर भी उनको बने बनाए निर्देश नहीं दिए गए। पहले उन्होंने प्रयोगों से निष्कर्ष निकाले। फिर बच्चों ने कुछ पदार्थ लिए, जैसे कि तांबा। इससे उन्होंने प्रयोग किए। उसे पिघलाया, उससे चीजें बनाई। फिर ऐसे ही प्रयोग सीसे व अन्य

धातुओं के साथ किए। इस काम में भूगोल का भी पाठ्यक्रम चल रहा था। इसमें बच्चों को सामाजिक जीवन के विभिन्न स्वरूपों की कल्पना करनी पड़ी थी। चरवाहों के जीवन के दौरान भौतिक स्थितियां क्या रही होंगी? कृषि के आरंभ होने पर या मछली पकड़ने के जमाने में स्थितियां क्या रही होंगी? इन लोगों के मध्य विनिमय का प्राकृतिक तरीका क्या रहा होगा? इन विंदुओं पर परस्पर चर्चा करने के बाद पता चला। साथ ही उन्होंने इन रूपाकृतियों के मानव गतिविधि के साथ संबंधों को भी समझा। इस तरह ये उनके लिए केवल बाहरी तत्व नहीं रहे। ये संयुक्त थे उन सामाजिक धारणाओं के साथ जो जीवन व मानव के विकास से संबंधित थीं। मेरे विचार में इसका परिणाम पूरी तरह से साबित कर देता है कि बच्चे नियम पाठ के जरिए तथ्यों की जानकरी पाने के मुकाबले एक साल तक ऐसे काम करके (एक सप्ताह में कुल पांच घंटे) विज्ञान, भूगोल और नृशास्त्र की बेहतर जानकारी पा लेते हैं। जहां तक शिक्षण का सवाल है, उनको केवल एकाग्रता, व्याख्या व निष्कर्ष निकालने की बेहतर क्षमता व पर्यवेक्षण चिंतन का अधिक प्रशिक्षण मिलता है।

यहां मैं पाठ सुनाने की चर्चा करूंगा। जैसा कि हम सभी जानते हैं इसमें बच्चा टीचर व अन्य बच्चों के सामने प्रदर्शित करता है कि उसने पाठ्य पुस्तक से कितना ग्रहण कर लिया है। दूसरे पहलू से पाठ सुनाना स्कूल में एक मीटिंग का मुकाम बनता है। जिस तरह घर पर स्वैच्छिक बातचीत होती है यह उसी के समान है। यह सिर्फ अधिक अनुशासित होती है और निश्चित दिशा में चलती है। यह एक सामाजिक विनिमय का स्थान बन जाता है जहां अनुभवों और विचारों का आदान-प्रदान होता है। यहां समीक्षा होती है, भ्रांतियां दूर होती हैं विचार व जिज्ञासा की नई दिशाएं तय की जाती हैं।

ग्रहण की गई जानकारी की परीक्षा से पाठ की यह प्रक्रिया

बच्चों की संवाद प्रवृत्ति को स्वच्छंदता देती है। इससे स्कूल में भाषा प्रभावित व संशोधित होती है। पुराने तरीके में बच्चों को भाषा का संपूर्ण व स्वच्छंद प्रयोग करना सिखाना एक बड़ी समस्या होती थी। कारण स्पष्ट था। भाषा के लिए जो स्वाभाविक उद्देश्य है, उसका अवसर कम ही दिया जाता था। शिक्षत्व में पाठ्य की भाषा को विचारों की अभिव्यक्ति का माध्यम माना जाता है। प्रशिक्षित मस्तिष्क वाले वयस्कों के लिए यह सच हो सकता है। लेकिन भाषा को मूलतः एक सामाजिक वस्तु नहीं माना जा सकता, ऐसा माध्यम जिसके जरीए हम अपने अनुभव दूसरों को देते हैं और उनके अनुभव ग्रहण करते हैं। स्वाभाविक आधार पर देखें तो निस्संदेह भाषा सिखाना एक जटिल और कठिन समस्या है। भाषा को अपने आप में एक वस्तु के रूप में सिखाने की नासमझी पर गौर कीजिए। स्कूल जाने से पहले बच्चा अगर कुछ करता है तो वह है जिन चीजों में उसकी दिलचस्पी हो उनके बारे में बात करना। लेकिन जब स्कूल में खास दिलचस्पी की कोई चीज न हो तब भाषा का प्रयोग केवल पाठ दोहराने के लिए किया जाता है। इसलिए इसमें हैरानी की कोई बात नहीं कि स्कूल के पाठ मातृभाषा में सिखाने में विशेष कठिनाई होती है। क्योंकि भाषा अस्वाभाविक तरीके से सिखाई जाती है, क्योंकि यह विशेष अनुभवों व धारणाओं की अभिव्यक्ति की इच्छा से प्रेरित नहीं होती, इसके प्रयोग की स्वतंत्रता बच्चों में धीरे-धीरे लुप्त होने लगती है। अंततः हाई स्कूल के टीचर को संभाषण के संपूर्ण प्रयोग में सहायता करने के लिए कई तरीके खोजने पड़ते हैं। लेकिन अगर भाषा की प्रवृत्ति का सामाजिक तरीके से इस्तेमाल किया जाए तो वास्तविकता से निरंतर संपर्क बना रहता है। नतीजा यह होता है। उसके पास अभिव्यक्त करने को कोई विचार होता है। और विचार तब तक विचार नहीं कहलाता जब तक कि वह किसी का अपना न हो। परंपरागत

तरीके में बच्चा ऐसा कुछ कह सकता है जो उसने सिर्फ सीखा हो। कुछ कहने के लिए होना और सिर्फ कुछ कहना यानी दोहराना, इन दोनों में बहुत बड़ा अंतर है। जिस बच्चे के पास तरह-तरह की सामग्री और तथ्य हैं वह उनके बारे में बात करना चाहता है। उसकी भाषा अधिक संपूर्ण और परिष्कृत हो जाती है। क्योंकि वह वास्तविक से नियंत्रित और परिष्कृत होती है। पढ़ना, लिखना और भाषा का मौखिक प्रयोग इस आधार पर सिखाया जा सकता है। इसे संबंधों के आधार पर सिखाया जा सकता है। बच्चे में अपने अनुभवों को बताने और दूसरे के अनुभव जानने की उत्कट इच्छा से यह सम्पन्न होता है। उसका तथ्यों व बलों से संपर्क इसके लिए प्रेरित करता है जोकि संचारित सत्य का निर्धारण करते हैं।

समयाभाव के कारण मैं बड़े बच्चों के कार्य पर प्रकाश नहीं डालूंगा जिनमें अदिम अनगढ़ सृजन व संप्रेषण का स्थान विज्ञान प्रेरित जिज्ञासा ले लेती है। लेकिन इस तरह के प्रयोगात्मक कार्य से जो भाषा प्रवाहित होती है उसके बारे में मैं कुछ कहूंगा। यह कार्य समान्य किस्म का था। इसका प्रयोग भी साधारण था। यह धीरे-धीरे बच्चों को जीव विज्ञान और भूगोल के अध्ययन की ओर ले जा रहा था। जो वाक्य मैं पढ़ने जा रहा हूं वह मुझे कवित्वमय और वैज्ञानिक दोनों लगते हैं। ''बहुत पहले के जमाने में जब धरती नई थी, जव वह लावा थी, धरती पर पानी नहीं था। धरती के ऊपर चारों हवा में भाप थी। हवा में बहुत सी गैसें भी थीं। इनमें एक कार्बन डाइआक्साइड थी। भाप से बादल बन गए, क्योंकि धरती अब ठंडी होने लगी थी। कुछ समय बाद बारिश होने लगी। पानी नीचे आया। उसने हवा में मौजूद कार्बन डाइआक्साइड को अपने में घोल लिया।'' ऊपरी तौर पर देखने से जितना लगता है, उससे कहीं अधिक विज्ञान है। यह बच्चे के तीन महीने का काम लगता है। बच्चों ने अपने दैनिक व साप्ताहिक

काम का रिकार्ड रखा। यह तीन महीने के काम का सार-संक्षेप है। मैं इसे कवित्व की भाषा कहता हूं। क्योंकि इसमें बच्चे का स्पष्ट बिंब है और जिन वास्तविकताओं की उसने कल्पना की है, उनके बारे में उसकी निजी अनुभूतियां इसमें शामिल हैं। मैं भाषा के विशद् प्रयोग के दो उदाहरण और दूंगा जिनके पीछे विशद् अनुभव थे।'' मात्रा में कैल्शियम निकाल पर पानी में मिश्रित कर ली जहां छोटे जीव उसे ग्रहण कर सकते थे।'' दूसरा इस तरह है। ''जब धरती ठंडी हुई, उस समय कैल्शियम चट्टानों में थी। तक पानी और कार्बन डाइआक्साइड ने मिलकर एक घोल बनाया। वर्षा हुई तो उसने कैल्शियम को चट्टानों से निकाल लिया। वह उसे समुद्र में ले गई। वहां छोटे जीव थे जिन्होंने इस घोल में से उसे ग्रहण किया।'' इसमें प्रयोग किए गए शब्द निजी अनुभूतियों के साक्षी हैं जिनके कारण निजी उपयुक्त अभिव्यक्ति अनिवार्यतः सामने आई है।

अगर मैं दूसरे उदाहरणों में बहुत समय न लूं तो मैं बताना चाहूंगा कि कैसे अति साधारण सामग्री से आरंभ करके बच्चे खोज के विशद् क्षेत्र की ओर जाते हैं। वे उस बौद्धिक ज्ञान तक पहुंचते हैं जो ऐसे शोध का परिणाम है। मैं यहां केवल उस प्रयोग की चर्चा करूंगा जिससे यह काम शुरू हुआ। यह धातुओं को चमकाने के लिए जमाया हुआ चाक बनाना था। बच्चों ने इसके लिए साधारण उपकरण लिए। एक गिलास, चूने का पानी और शीशे की ट्यूब। उन्होंने पानी में मौजूद कैल्शियम कार्बोनेट को सघन किया। इसके साथ ही उनका यह अध्ययन आरंभ हुआ कि धरती पर विभिन्न प्रकार की चट्टानें कैसे बनीं और वे स्थान जहां ऐसी अलग-अलग किस्म की चट्टानें पाई जाती हैं। इससे वे अमेरिका, हवाई, प्यूरेटो रिको आदि की भौगोलिक स्थितियों तक पहुंचे। उन्होंने इन विभिन्न किस्म की चट्टानों के मनुष्य के पेशे पर पड़ने वाले प्रभाव को समझा। अंततः इस सारे अध्ययन

का सार उस समय के मानव के जीवन के बारे में सामने आया। बच्चों ने युगों पहले की भौगोलिक प्रक्रिया और आज के औद्योगिक पेशों का निर्धारण करने वाली भौतिक स्थितियों के संबंध को समझा।

''स्कूल और बच्चे का जीवन'' में जो अनेक संभावनाएं हैं, मैंने उनमें से केवल एक को चुना है। क्योंकि मैंने देखा है कि इस एक में अधिक कठिनाई आती है। यह दूसरों की अपेक्षा कहीं बड़ा अवरोध है। आप इससे सहमत होंगे कि क्या ही अच्छा हो अगर स्कूल ऐसा स्थान हो जहां बच्चा सचमुच रहे। जहां वह जीवन का अनुभव प्राप्त करे। जिसमें उसे प्रसन्नता मिले और अपने लिए मानी तलाश कर सके। पर इसके साथ ही हम यह सवाल भी सुनते हैं, इस आधार पर बच्चा कैसे आवश्ययक जानकारी पा सकेगा? वह आवश्यक ज्ञान कैसे अर्जित करेगा? अगर अधिकांश नहीं तो बहुत से लागों को ऐसा लगता है कि जीवन की प्रक्रिया द्वारा जानकारी और ज्ञान हासिल नहीं किया जा सकता। इसलिए मैंने सामान्य और अपर्याप्त तरीके से ही यह बताने की कोशिश की है कि (केवल स्कूल और उसका रोजमर्रा का काम ही विस्तृत तरीके से यह बात स्पष्ट कर सकता है।), समस्या का समाधान कैसे होता है। किस तरह मानव स्वभाव की मूल प्रवृत्तियों को उपयुक्त माध्यम से प्रभावित किया जा सकता है। किस तरह उनकी अभिव्यक्ति को नियंत्रित किया जा सकता है। यह न केवल बच्चे के विकास को सुविधाजनक व समृद्ध बनाने के लिए है बल्कि परिणाम लाने के लिए भी है। यह तकनीकी जानकारी व ज्ञान के लिए भी है जो अतीत में शिक्षा के लिए आदर्श रहे हैं।

हालांकि मैंने यह विशेष तरीका चुना है (सार्वभौम तौर पर किए जाने वाले प्रश्न के अनुमोदन के तौर पर) तो भी मैं इस मामले को नकारात्मक या व्याख्यात्मक स्थिति में छोड़ नहीं दूंगा।

जीवन आखिरकार बहुत महान होता है। बच्चे का जीवन भी उसके समय और परिणाम में वयस्क के जीवन से भिन्न होता है। ''हमें अपने बच्चों के साथ जीना चाहिए'', इसका अर्थ सबसे पहले यह है कि हमारे बच्चे अपना जीवन जीएं। यह नहीं कि उनको बाधित किया जाए। उन पर तमाम तरह की शर्तें थोपी जाएं जिनका बच्चे के वर्तमान जीवन से बहुत दूर का वास्ता हो। अगर हम बच्चे के जीवन और आवश्यकताओं के साथ तादात्म्य स्थापित करें और उसकी आकांक्षाओं व विकास के लिए सब कुछ उपलब्ध कराएं तो वयस्क जीवन की सारी जानकारी, संस्कृति व ज्ञान समय के साथ खुद ही आ जाएंगे।

संस्कृति की बात करते समय मुझे स्मरण हो आया कि मैं बच्चे की बाह्य गतिविधियों के बारे में ही बात करता रहा हूं। उसके बोलने, बनाने, खोज कर जानने, सृजन आदि उसकी बाहरी प्रवृत्तियों की अभिव्यक्ति के बारे में ही। कहने की आवश्यकता नहीं कि बच्चा काल्पनिक मूल्यों व विचारों के संसार में जीता है जिनका बाह्य आकार उसे अनगढ़ रूप में ही मिलता है। आजकल हम बच्चे की कल्पना पोषण की बात बहुत सुनते हैं। फिर हम बहुत कुछ कहते रहते हैं। हम यह मानते हैं कि कल्पना बच्चे के जीवन का कोई खास हिस्सा है जिसकी संतुष्टि किसी विशेष दिशा में होती है। सामान्यतः किसी अवास्तविक, मनघडंत, कल्पित कथा में। हम इतने निष्ठुर और समझने में इतने कच्चे कैसे हो सकते हैं। कल्पना तो वह माध्यम है जिसमें बच्चा जीता है। ऐसी हरेक चीज और हरेक स्थान में जो उसकी गतिविधियों व मस्तिष्क को प्रभावित करता है, उसके लिए मूल्यवान व महत्वपूर्ण है। बच्चे के जीवन के उसके स्कूल से संबंध मूलतः यह है : क्या हम उसकी नैसर्गिक प्रवृत्ति की उपेक्षा कर दें। क्या हम जीवित बच्चे से कोई वास्ता न रखें। बल्कि उस जड़ धारणा से वास्ता रखें जो हमने गढ़ी है। या फिर हम उसे खेल और संतुष्टि दें?

अगर हम जीवन और बच्चे के जीवन में आस्था रखें तो वे सभी पेशे, उपयोग जिनकी हमने चर्चा की है, वह सब इतिहास, विज्ञान आदि उसकी संस्कृति व कल्पना के लिए उपादेय होंगे। उनके माध्यम से ही उसका जीवन समृद्ध व अनुशासित होगा। जब हम केवल बाह्य उत्पादों व बाह्य परिणामों को ही देखते हैं तो भी उनके साथ ही उसकी मानसिक प्रवृत्तियां पुनःसंयोजित होती हैं। उसकी दृष्टि का विकास होता है। वह संवेदनशील बनती है। उसे बढ़ती क्षमता का आभास होता है। अंतर्दृष्टि की पहचान होती है और संसार व मानव में रुचि पनपती है। अगर संस्कृति को बाहरी चमक न माना जाए और वह मामूली लकड़ पर टीक की पालिश से पैदा हुई चमक जैसी न हो तो निश्चित ही बच्चे की कल्पना का विकास होगा। और कल्पना का यह विकास जीवनपर्यंत होता रहेगा, जब तक उसका निजी जीवन प्रकृति और समाज के जीवन से जुड़ा है। प्रकृति और समाज स्कूल की कक्षा में वास कर सकें, जब स्कूल में अध्ययन के प्रारूप अनुभवों के अधीन हों, तभी इस तरह का तादात्म्य बनाने का अवसर मिलेगा और संस्कृति लोकतंत्र की संकेतक बन जाएगी।

3

शिक्षा में बर्बादी

आज का घोषित विषय शिक्षा में बर्बादी है। सबसे पहले मैं इसका पहले दो व्याख्यानों से जो संबंध है उसके बारे में संक्षेप में कुछ कहना चाहूंगा। पहला स्कूल के सामाजिक पहलू के बारे में था। इसमें उन आवश्यक समायोजनों के बारे में चर्चा की गई थी जो वर्तमान सामाजिक परिस्थितियों में उसे प्रभावी बना सकते हैं।

दूसरा बच्चे के वैयक्तिक विकास से संबधित था। अब तीसरा एक संस्थान के रूप में स्कूल के बारे में है। समाज से और स्कूल के सदस्य बच्चों से उसके संबंध के बारे में। यह व्यवस्थापन के प्रश्न के बारे में है। क्योंकि सारी बर्बादी इसके अभाव से होती है। व्यवस्थापन का उद्देश्य कुशलता व मितव्ययता को बढ़ावा देना होता है। सवाल धन या वस्तुओं की बर्बादी का ही नहीं है। इन चीजों का भी महत्व है। लेकिन मुख्य बर्बादी मानव जीवन की होती है। बच्चों के जीवन की जब वे स्कूल में हों और बाद में भी क्योंकि उनको अपर्याप्त व विकृत तैयारी मिलती है।

लिहाजा जब हम व्यवस्थापन की बात करते हैं तो केवल बाहरी चीजों की चर्चा नहीं करते जो ''स्कूल का तंत्र'' है। स्कूल का बोर्ड, अधीक्षक, भवन, अध्यापकों की भर्ती व पदोन्नति आदि। ये बातें जरूरी हैं। लेकिन मूलभूत संघटन स्कूल को

व्यक्तियों के एक समुदाय के तौर पर चलाने और उसके सामाजिक जीवन के अन्य रूपों से संबंधों का है। सारी बर्बादी अलगाव से आती है। संघटन और कुछ नहीं, दूसरों के साथ वस्तुओं का संबंध जोड़ना है ताकि वे सुविधा व लचीलेपन के साथ आसानी से काम कर सकें। इसलिए जब हम शिक्षा में बर्बादी की बात करते हैं तो मैं आपका ध्यान स्कूल तंत्र के विभिन्न अंगों के विलगता से काम करने की तरफ आकर्षित करना चाहता हूं। शिक्षा के उद्देश्य में एकत्मता के अभाव और अध्ययन व अध्यापन पद्धति में सामंजस्य के अभाव की तरफ आकर्षित करना चाहता हूं। मैंने इसके लिए चार्ट नं. 1 बनाया है। मौखिक रूप से अपनी बात स्पष्ट करने के बजाय इसे देखने से विलगता की बात आसानी से समझ में आ जाएगी। मेरे एक विरोधाभासी मित्र का कहना है कि चित्र से अधिक अस्पष्ट वस्तु दूसरी नहीं होती। हो सकता है अपनी बात को चित्र में प्रदर्शित करने की मेरी कोशिश उनके कथन को सत्य सिद्ध कर दे।

इस चित्र में जो ब्लाक हैं वे स्कूल तंत्र के विभिन्न अवयवों को दर्शाते हैं। इनका उद्देश्य हर विभाग को दिए जाने वाले समय को प्रदर्शित करना भी है। इसके साथ ही तंत्र के व्यक्तिगत भाग में समय व पढ़ाए जाने वाले विषयों व उनके परस्पर व्यापन को दर्शाना भी है। हर ब्लाक की उन ऐतिहासिक परिस्थितियों को भी दिखाया गया है जिनमें उनका विकास हुआ।

सारा स्कूल तंत्र ऊपर से नीचे की ओर विकसित हुआ है। मध्य युग में यह व्यावसायिक स्कूलों का एक झुंड हुआ करता था। खासतौर पर कानून और धर्मविज्ञान के स्कूलों का। हमारे वर्तमान विश्वविद्यालय मध्य युग की इसी परंपरा से आए हैं। मैं यह नहीं कहता कि वर्तमान में ये मध्यकालीन संस्थान हैं। लेकिन इनकी जड़ें मध्य युग में हैं और अध्ययन के मामले में इन्होंने अपनी सभी मध्ययुगीन परंपराओं को छोड़ा नहीं है।

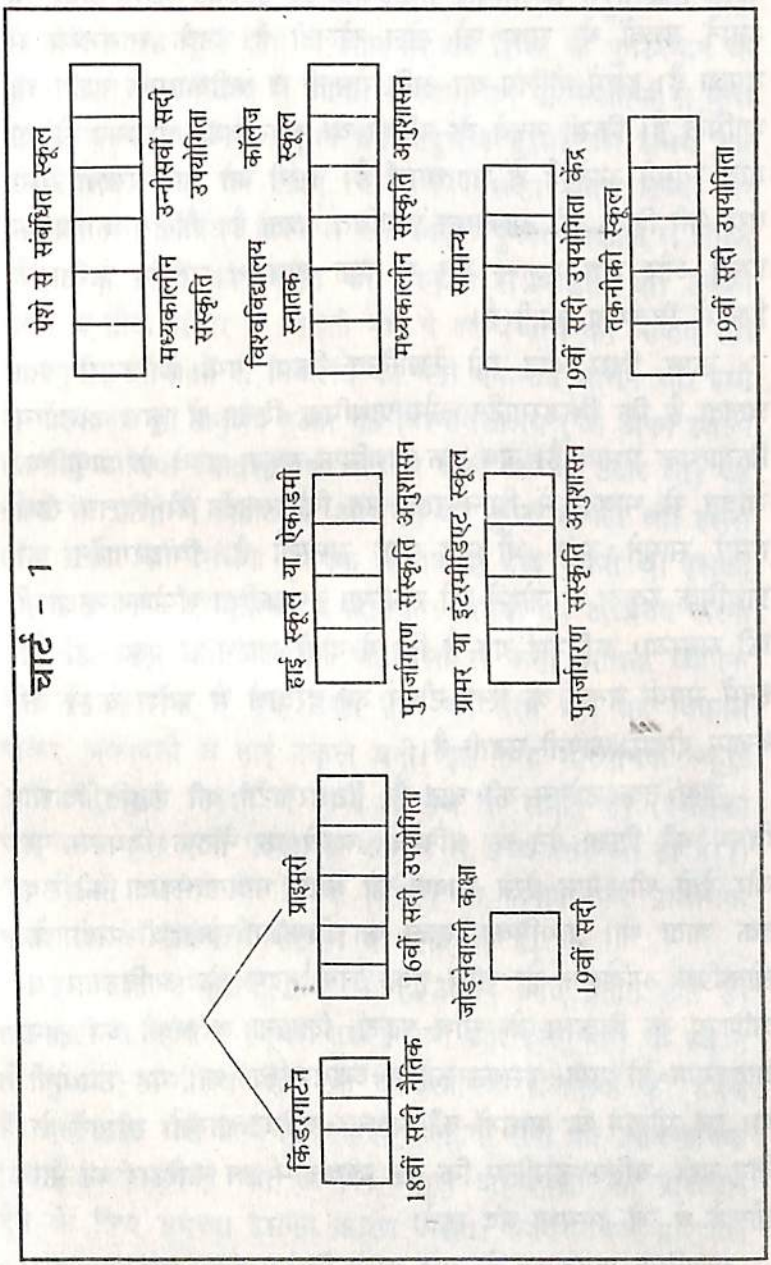
चार्ट - 1
पेशे से संबंधित स्कूल
किंडरगार्टेन
प्राइमरी
18वीं सदी नैतिक
16वीं सदी उपयोगिता
जोड़नेवाली कक्षा
19वीं सदी
हाई स्कूल या ऐकाडमी
पुनर्जागरण संस्कृति अनुशासन
ग्रामर या इंटरमीडिएट स्कूल
पुनर्जागरण संस्कृति अनुशासन
मध्यकालीन संस्कृति
उन्नीसवीं सदी उपयोगिता
विश्वविद्यालय स्नातक
कॉलेज स्कूल
मध्यकालीन संस्कृति अनुशासन
सामान्य
19वीं सदी उपयोगिता केंद्र
तकनीकी स्कूल
19वीं सदी उपयोगिता

किंडरगार्टेन आज की सदी की देन है। यह नर्सरी और मां अपने बच्चों के साथ जो खेल खेलती है उनके सामंजस्य से उपजा है। इसमें शैलिंग का अति रोमानी व प्रतीकात्मक दर्शन भी शामिल है। किसी बच्चे के जीवन के वास्तविक अध्ययन से जो तत्व सामने आते हैं वे महत्वपूर्ण हैं। नर्सरी को जारी रखना सभी तरह की शिक्षा को आजीवन प्रभावित करता है। शैलिंग का घटक इसमें और शेष स्कूल तंत्र में एक अवरोध उत्पन्न करता है जिससे विलगता आती है।

ऊपर जिस बात को रेखांकित किया गया है उससे पता चलता है कि किंडरगार्टेन और प्राथमिक शिक्षा में कुछ अन्योन्य क्रियात्मक प्रभाव है। जब तक प्राथमिक स्कूल बच्चे के प्राकृतिक जीवन से भावना में भिन्न रहा, यह किंडरगार्टेन से विलग रहा। हमारे सामने आज भी यह एक समस्या है। किंडरगार्टेन को प्राथमिक स्कूल से जोड़ने की समस्या। तथाकथित संयोजन कक्षाओं की समस्या। कठिनाई यह है कि ये दोनों आरंभ से एक नहीं हैं। इनमें सपर्क बनाने के लिए टीचर को दरवाजे से प्रवेश करने के बजाय दीवार फांदनी पड़ती है।

जहां तक उद्देश्य की बात है, किंडरगार्टेन की पद्धति किसी विषय की शिक्षा देने के बनिस्बत बच्चे के नैतिक विकास पर जोर देती थी। एक ऐसा आदर्श जो कभी भावनात्मकता की हद तक जाता था। प्राथमिक स्कूल का विकास सोलहवीं सदी के लोकप्रिय आंदोलन के साथ हुआ जब मुद्रण के आविष्कार व वाणिज्य के विकास के साथ पढ़ना, लिखना व अंकों का ज्ञान आवश्यक हो गया। इसका उद्देश्य व्यावहारिक था। यह उपयोगी था। इन सीखने के साधनों की महारत हासिल करना। सीखने के लिए नहीं, बल्कि इसलिए कि यह जीवन में उन करिअर का द्वार खोलते थे जो अन्यथा बंद रहते।

प्राथमिक पाठशाला के बाद दूसरा विभाग व्याकरण पाठशाला

का है। इस पारिभाषिक पद का प्रयोग पश्चिम में बहुत कम होता है। लेकिन यह पूर्वी देशों में आम है। यह शिक्षा के पुनरुत्थान के कुछ पहले से अस्तित्व में आया। संभवतः उन परिस्थितियों से कुछ पहले जिनमें प्राथमिक स्कूल का प्रादुर्भाव हुआ। उस समय जब समकालीन शिक्षा का लक्ष्य भिन्न था। इसका संबंध उच्च स्तर पर भाषा का अध्ययन करने से था। क्योंकि पुनरुत्थानकाल में लैटिन और ग्रीक लोगों को अतीत की संस्कृति से जोड़ती थीं। उनको रोमन व ग्रीक संसार से जोड़ती थीं। ये आभिजात्य की भाषाएं थीं। मध्ययुगीन सीमाओं से निकलने का यही एकमात्र साधन थीं। इसी से पाठशाला का प्रादुर्भव हुआ। यह विश्वविद्यालय (जो अपने स्वरुप में कहीं अधिक व्यावसायिक थी) से कहीं अधिक उदार थी। यह लोगों के हाथों में अतीत के अध्ययन की कुंजी सौंपती थी। इससे लोग संसार को अधिक व्यापक क्षितिज से देख सकते थे। इसका उद्देश्य प्रथमतः सांस्कृतिक व द्वितीयतः विषयों का अध्ययन करना था। यह आज की व्याकरण पाठशाला से कहीं अधिक व्यापक थी। यह कालेज में एक उदार तत्व की तरह थी। यह विकास पाकर अकादमी व हाई स्कूल बनी। इस तरह माध्यमिक स्कूल आज भी कुछ हिस्सों में निम्न कालेज के समान है। (जिसका पाठ्यक्रम कुछ सदी पहले के कालेज से उच्च स्तर का ही है।)। यह किसी कालेज के तैयारी विभाग के समान और प्राथमिक पाठशाला के संक्षेप में दोहराने के लिए भी है।

इस तरह उन्नीसवीं सदी में दो उत्पाद आए प्रतीत होते हैं। तकनीकी व सामान्य स्कूल। तकनोलाजी और इंजीनियरी के स्कूल तो मुख्यतः उन्नीसवीं सदी के व्यावसायिक स्थितियों की उपज हैं। उसी तरह जैसे प्राथमिक स्कूल सोलहवीं सदी की व्यावसायिक स्थितियों से उपजा था। सामान्य स्कूल अध्यापकों को प्रशिक्षण देने के लिए उपजा। इसका कारण अंशतः व्यावसायिक प्रशिक्षण था, अंशतः सांस्कृतिक।

अधिक विस्तार में न जाते हुए हम कह सकते हैं कि हमारे यहां स्कूल सिस्टम के आठ विभिन्न भाग हैं। जैसा कि चार्ट में दिखाया गया है, ये सभी इतिहास की विभिन्न अवधियों में उपजे। इनके पीछे विभिन्न विचार थे। इसलिए इनके पढ़ाने के तरीके भी अलग-अलग थे। मैं यह तो नहीं कहूंगा कि स्कूल सिस्टम के अतीत के विभिन्न भागों की सारी पृथकता व विलगता सदा बनी रहेगी। फिर भी यह तो स्पष्ट ही है कि अब तक उनको एक सूत्र में नहीं पिरोया जा सका है। शिक्षा में प्रशासनिक तौर पर सबसे बड़ी समस्या इन विभिन्न भागों को जोड़ने की है।

सामान्य स्कूल में टीचर्स ट्रेनिंग का उदाहरण लेते हैं। इसकी स्थिति वर्तमान में अनियमित सी है। यह हाई स्कूल और कालेज के बीच में कहीं है। इसके लिए हाई स्कूल की तैयारी चाहिए। पर साथ ही कुछ कालेज का काम भी इसमें शामिल है। यह विद्वत्ता वाली उच्च शिक्षा से अलग-थलग है। चूंकि इसका उद्देश्य लोगों को यह सिखाना होता है कि पढ़ाया कैसे जाए, न कि क्या पढ़ाया जाए, इसलिए जब हम कालेज जाते हैं तो दूसरे आधे से वास्ता पड़ता है। वहां हम सीखते हैं कि क्या पढ़ाया जाए। यहां पढ़ाने के तरीके को तो लगभग हिकारत से देखा जाता है। कालेज बच्चों व किशोरों के संपर्क से दूर होता है। इसके सदस्य आमतौर पर घर से दूर होते हैं। वे अपना बचपन भूल चुके होते हैं। वह विषय के विद्वान बनकर शिक्षक बनते हैं। उनको इसकी बहुत कम जानकारी होती है कि जो कुछ पढ़ाना है उसका पढ़ने वाले के दिमाग से क्या वास्ता है। क्या पढ़ाया जाए और कैसे पढ़ाया जाए, उसके इस विभाजन में इस विलगता के कारण दोनों पक्ष नुकसान में रहते हैं।

प्राथमिक, व्याकरण और हाई स्कूल के परस्पर संबंधों को समझना दिलचस्प होगा। प्राथमिक स्कूल में विषयों की भीड़ बढ़ गई है। इसमें ऐसे बहुत से विषय शामिल हो गए हैं जो पुराने

व्याकरण स्कूल में पढ़ाए जाते थे। हाई स्कूल में विषयों को कम किया गया है। इसमें लैटिन और बीजगणित को उच्च स्तर पर भेज दिया गया है। सातवें व आठवें ग्रेड में वह सब है जो व्याकरण स्कूल में नहीं था। इस तरह इनकी स्थिति भी कुछ अनियमित मिश्रण की हो जाती है। यहां अंशतः वह पढ़ाया जाता है जो बच्चे पहले पढ़ते रहे हैं (पढ़ना, लिखना, अंक ज्ञान) और अंशतः वह जिसमें हाई स्कूल के लिए तैयारी कराई जाती है। इस ग्रेड के लिए कई जगह इंटरमीडिएट स्कूल नाम रखा गया है। यह अच्छा नाम है। इसमें कुछ वह है जो पहले था, कुछ वह जो आगे होगा, इसका अपना विशेष अर्थ नहीं।

जिस तरह भाग अलग-अलग हैं, उसी तरह उद्देश्य भी अलग-अलग हैं। नैतिक विकास, व्यावहारिक उपयोगिता, सामान्य संस्कृति, विषय ज्ञान व व्यावसायिक प्रशिक्षण। शिक्षा के विभिन्न भागों में ये उद्देश्य अलग-अलग परिलक्षित होते हैं। इनमें परस्पर क्रियाएं बढ़ने के कारण हरेक से आशा की जाती है कि वह कुछ संस्कृति, विषय ज्ञान और उपयोगिता का पाठ पढ़ाएगा। लेकिन इनमें आधारभूत एकता का अभाव इससे परिलक्षित होता है कि एक तरह का अध्ययन विषय ज्ञान के लिए अच्छा माना जाता है तो दूसरी तरह का संस्कृति के लिए। उदाहरण के लिए अंकगणित का कुछ भाग विषय ज्ञान के लिए अच्छा माना जाता है तो दूसरा उपयोगिता के लिए। साहित्य का अध्ययन संस्कृति के लिए है तो व्याकरण उपयोगिता के लिए। भूगोल अंशतः उपयोगिता के लिए है, अंशतः संस्कृति के लिए। शिक्षा की एकजुटता में बिखराव है। अध्ययन केंद्रित हो जाते हैं। यह अध्ययन इस लक्ष्य के लिए है, यह इस लक्ष्य के लिए। तब समस्त अध्ययन एक समझौता सा हो जाता है जो नियत उद्देश्यों और छितराए अध्ययन का समुच्चय बन जाता है। शिक्षा में प्रशासन के स्तर पर सबसे बड़ी समस्या उसकी एकात्मता है। एक दूसरे से

असंबद्ध अध्ययन के स्थान पर जिनमें दोहराव, घर्षण, पुन:दोहराव तथा कार्यसंपादन में होने वाली बबार्दी परिलक्षित होती है। क्योंकि इनको परस्पर सही तरीके से जोड़ा नहीं जा सका है।

चार्ट 2

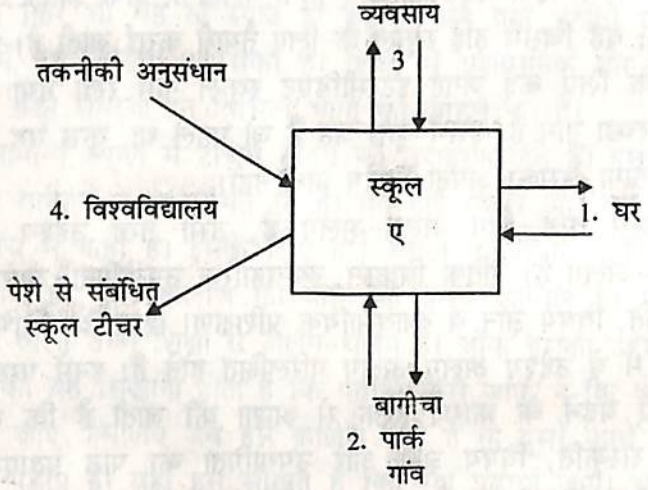

यह दूसरा प्रतीकात्मक चार्ट (2) है। मैं यह कहना चाहता हूं कि सिस्टम के सभी भागों को परस्पर जोड़ने का एक ही रास्ता है–इन को जीवन से जोड़ा जाए। अगर हम अपनी नजर सिर्फ स्कूल सिस्टम पर गड़ाए रखें तो कृत्रिम एकीकरण ही जाएंगे। हमें इसे संपूर्ण समाज के एक अंग के रूप में देखना चाहिए। इस संपूर्ण (1) में एक तरफ घर है। दो तीर दर्शा रहे हैं उन्मुक्त अंतर्क्रिया के प्रभाव को जो वस्तुओं व विचारों के रूप में घर के जीवन व स्कूल से मिलता है। (2) नीचे हम प्राकृतिक वातावरण के साथ संबंधों को देखते हैं। यह व्यापक अर्थों में भूगोल का विस्तृत क्षेत्र है। स्कूल के भवन में प्राकृतिक वातावरण होना चाहिए। उसे एक बगीचे में होना चाहिए। इस बगीचे से बच्चों को चारों तरफ के खेतों में ले जाना चाहिए। उसके बाद उस क्षेत्र के

विस्तार में जहाँ सभी आवश्यक तथ्य व शक्तियां हों। (3) ऊपर व्यावसायिक जीवन दर्शाया गया है। साथ ही स्कूल व उद्योग की शक्तियों एवं आवश्यकताओं के बीच उन्मुक्त खेलने की आवश्यकता को। (4) दूसरी तरफ विशिष्ट विश्वविद्यालय है। अपने विभिन्न चरणों के साथ। इसमें प्रयोगशालाएं हैं, पुस्तकालयों, संग्रहालयों व व्यावसायिक स्कूलों के रूप में इसके संसाधन हैं।

बच्चे के दृष्टिकोण से स्कूल में सबसे बड़ी बर्बादी यह है कि वह जो कुछ अनुभव बाहरी उन्मुक्त वातावरण में पाता है उसका उपयोग स्कूल में नहीं कर सकता। दूसरी तरफ वह जो कुछ स्कूल में सीखता है उसका उपयोग दैनिक जीवन में नहीं कर पाता। यह स्कूल का विलगाव है। उसका जीवन से विलगाव। बच्चा जब स्कूल में आता है तो उसे उसका अधिकांश अपने दिमाग से दूर करना पड़ता है जो उसने अपने पास-पड़ोस व घर में दिलचस्प व गतिविधिपूर्ण पाया था। लिहाजा उसके दैनिक अनुभवों का उपयोग करने में असमर्थ स्कूल कठिनाइयों के साथ एक अलग राह पर अपने काम में जुट जाता है। वह अनेक साधनों की सहायता से बच्चे की दिलचस्पी पढ़ाई में पैदा करने की कोशिश करता है। कुछ साल पहले मैं मोलीन शहर गया। वहां अधीक्षक ने बताया कि हर साल बहुत से बच्चे इस बात से हैरान होते हैं कि उनकी किताब में बताई गई मिसीसिपी नदी का कुछ वास्ता उनके घरों के पीछे बहने वाले जल प्रवाह से है। उनके लिए भूगोल स्कूल की कक्षा का विषय जो था। बहुत से बच्चों के लिए यह नई जानकारी होती है कि जो कुछ वह प्रतिदिन देखते, छूते या अनुभव करते हैं, यह उन तथ्यों का निश्चित विवरण ही है। जब हम सोचते हैं कि हम सब पृथ्वी पर रहते हैं, हम सब वातावरण में रहते हैं, हमारे जीवन पर कदम-कदम पर मिट्टी, वनस्पतियों व जीव-जंतुओं का प्रभाव पड़ता है। प्रकाश ताप का प्रभाव पड़ता है। अब जरा सोचिए कि स्कूल में

जो भूगोल पढ़ाया जाता है वह क्या है। हमारे यहां दैनिक जीवन में बच्चा जो अनुभव करता है और स्कूल में उसे जो सामग्री बड़े पैमान पर पढ़ने को दी जाती है, उसमें बहुत अंतर होता है। यह तो उदाहरण मात्र है जिस पर हममें से कई देर तक विचार करेंगे तब देखेंगे कि स्कूल में आज जो कृत्रिमता है वह अनिवार्यता नहीं।

हालांकि व्यावसायिक जीवन और स्कूल में संपर्क-संबंध होना चाहिए। लेकिन इसका मतलब यह नहीं कि बच्चे को किसी विशेष व्यवसाय के लिए तैयार करना है। लेकिन बच्चे का उसके आसपास के व्यावसायिक वातारवण से स्वाभाविक संबंध होना चाहिए। यह स्कूल का काम है कि वह इस संबंध को स्पष्ट करे और उसे उदार बनाए। इसके प्रति जागरूकता बनाए। लेकिन यह व्यावसायिक भूगोल या गणित का विशेष अध्ययन आरंभ करके नहीं करना चाहिए। इसके लिए तो संबंधों के सामान्य संपर्क पर्याप्त हैं। आज कई अंकगणित के पाठ्यक्रमों में मिश्रित व्यावसायिक साझेदारी शामिल नहीं है। जबकि एक पीढ़ी से भी कम समय पहले यह थी। क्योंकि पाठ्य-पुस्तकें छापने वाले सोचते थे कुछ छोड़ दिया तो उनकी पुस्तक बिकेगी नहीं। इस मिश्रित व्यावसायिक साझेदारी की शुरुआत तो सोलहवीं शताब्दी में हो गई थी। तब ज्वाइंट स्टाक कपंनियां नहीं बनी थीं। जब अमेरिका का इंडीज के साथ व्यापार बहुत बढ़ गया तो उसके लिए बड़ी पूंजी जुटाना आवश्यक हो गया। एक आदमी ने कहा, ''मैं इसमें इतना धन छः महीने के लिए लगाऊंगा।'' दूसरे ने कहा, ''इतना दो साल के लिए लगाऊंगा।'' आदि। इस तरह एकजुट होकर उन्होंने अपने व्यावसायिक उद्यम आरंभ करने के लिए काफी पूंजी जुटा ली। तब स्वभावतः स्कूलों में मिश्रित साझेदारी पढ़ाई जाने लगी। फिर ज्वाइंट स्टाक कंपनी ईजाद की गई। इसके साथ ही मिश्रित साझेदारी लुप्त हो गई। लेकिन उससे संबंधित निर्मेय और प्रश्न

गणित में दो सौ सालों तक बने रहे। व्यावहारिक उपयोगिता समाप्त हो जाने पर भी उनको बनाए रखा गया। ऐसा मानसिक ज्ञान के लिए किया गया। 'आखिरकार वे इतने कठिन निर्मेय जो थे।' आज भी गणित में बहुत बड़ा अनुपात ऐसी ही चीजों का है। बारह तेरह साल के बच्चे हानि लाभ का हिसाब लगाते रहते हैं। कई तरह के बैंक डिस्काउंट का गणित लगाते रहते हैं। ये इतने जटिल हैं कि बहुत पहले बैंकरों ने इसे छोड़ दिया है। जब यह बताया जाय कि अब इस तरह व्यापार नहीं किया जा रहा है, तो हमें फिर 'मानसिक विषय ज्ञान' का उपदेश सुनने को मिलता है। दूसरी तरफ बच्चों में और वास्तविक व्यापार में ऐसे बहुत से संबंध है जो बच्चों के अनुभव में आते हैं और जिन पर प्रकाश डाला जाना चाहिए। बच्चे को उसका वाणिज्यिक अंकगणित व भूगोल पढ़ाया जाना चाहिए। एक अलग-थलग विषय के तौर पर नहीं, बल्कि उनके सामाजिक वातावरण में पढ़ाया जाना चाहिए। युवाओं को बैंक का ज्ञान आधुनिक जीवन के एक अवयव के रूप में कराया जाना चाहिए। उनको यह सब बताया जाना चाहिए कि वह क्या करता है, कैसे करता है। तब संबंधित अंकगणित की क्रियाओं का वास्तविक उपयोग होगा। उन सब दिमाग खपाऊ प्रतिशत, आंशिक भुगतान आदि के उदाहरणों के विपरीत जो हम आज के अंकगणित में पाते हैं।

इस चार्ट में विश्वविद्यालय से जो संबंध हैं मैं उनकी विशेष चर्चा नहीं करना चाहूंगा। मैं केवल इतना कहना चाहता हूं कि स्कूल की पद्धति के सभी अंगों में मुक्त संपर्क-संबंध होने चाहिए। प्राथमिक व माध्यमिक शिक्षा में बहुत से विषयों में अत्यंत साधारण व तुच्छ बातें होती हैं। परीक्षण से हम पाते हैं कि बहुत से ऐसे तथ्य हैं जो तथ्य ही नहीं। जिनको बाद में भूलना होता है। इसकी वजह यह है कि हमारी प्राथमिक व उच्च शिक्षा में आवश्यक संबंधों का अभाव है। विश्वविद्यालय और कालेज को शोध संस्थान

माना जाता है। जहां खोज होती रहती है। जहां पुस्तकालय व संग्रहालय होते हैं। जहां अतीत के सर्वश्रेष्ठ संसाधन व्यवस्थित व संग्रहीत हैं। स्कूल हो या कालेज यह सब पर लागू होता है कि जिज्ञासा की भावना के लिए जिज्ञासा की प्रवृत्ति का होना अनिवार्य है। विद्यार्थियों को वह पढ़ाया जाना चाहिए जो सार्थक हो। जिससे उनके ज्ञान का क्षितिज व्यापक होता हो। न कि कुछ तुच्छ बातें। उसका सत्य से परिचय कराया जाना चाहिए। न कि वे बातें जिनको पचास साल पहले सत्य माना जाता था। या तो बातें जो अधूरे ज्ञान वाले टीचर की नजर में दिलचस्प हैं। इस लक्ष्य को कैसे हासिल किया जा सकता है जबकि हमारी शिक्षा पद्धति का विकसित अंग भी अति प्राथमिक बातों के संपर्क में है।

चार्ट 3

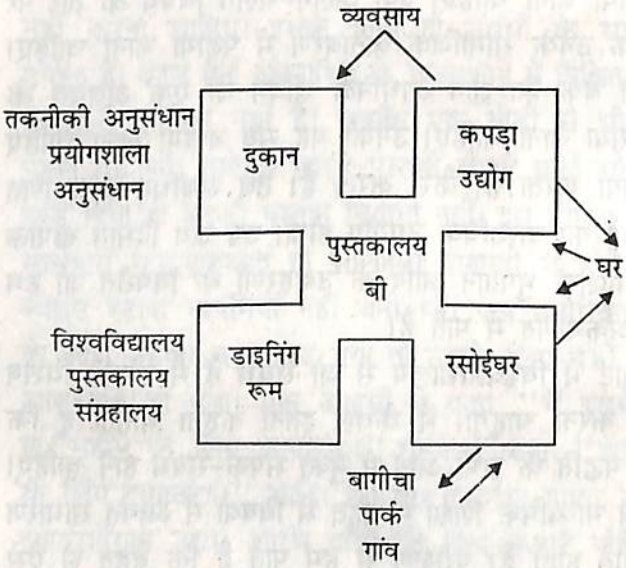

अगला चार्ट (3) दूसरे का ही विकसित रूप है। आसपास का वातावरण, घर, बगीचा, गांव, विश्वविद्यालय और व्यापारिक

जीवन से संबंध सभी यथावत हैं, लेकिन इसमें स्कूल ने अपना विकास कर लिया है। इसे दर्शाने का उद्देश्य यह है कि स्कूल को अपने विलगाव से बाहर निकलना चाहिए। उसे समाजिक जीवन से सहज संबंध स्थापित करने चाहिए। यह किसी आर्किटेक्ट का नक्शा नहीं जो स्कूल के लिए हो। यह तो उस विचार को नक्शे की शक्ल में पेश किया गया है जो हम स्कूल भवन में शामिल करना चाहते हैं। निचले हिस्से में आप इसमें देखेंगे भोजन कक्ष और रसोईघर है। ऊपर लकड़ी व धातु की कर्मशाला है। साथ ही वस्त्र कक्ष है, सिलाई और बुनकारी के लिए। मध्य में सबको एकत्र करने का विचार है। इसमें पुस्तकालय जैसे बौद्धिक साधन हैं। यहां वे सब साधन हैं जो कुछ क्रियात्मक रूप से किया जा रहा है उस पर प्रकाश डालने, उसे अर्थ देने व उदार मूल्य देने के लिए है। अगर चारों कोने प्रयोग का प्रतिनिधित्व करते हैं तो केंद्र उसके सिद्धांतों का। इस तरह की दस्तकारी के अभ्यास का मुख्य उद्देश्य रसोइए, दर्जी, बढ़ई या राजमिस्त्री बनने की कला सिखाना नहीं। इसका मकसद बाहरी सामाजिक जीवन से बच्चों को जोड़ना है। इससे बच्चे की कुछ करने, अभिव्यक्ति, रचनात्मक व सृजनात्मक बनने की आकांक्षा की पूर्ति होती है। बजाय इसके कि वह निष्क्रिय व अनुसरणकर्ता बना रहे। इसका महत्व यह है कि इससे सामाजिक व वैयक्तिक पक्षों में संतुलन बना रहता है। इस चार्ट में सामाजिकता के साथ तालमेल बनाना दर्शाया गया है। यहां एक तरफ घर है। इसमें दिखाया गया है कि किस तरह घर, व स्कूल के रसोई घर, वस्त्र कक्ष के बीच स्वाभाविक आवागमन होता है। बच्चा घर में जो कुछ सीखता है उसका उपयोग स्कूल में कर सकता है। जो कुछ स्कूल में सीखता है उसका उपयोग घर पर करता है। इन दो महत्वपूर्ण बातों से विलगाव समाप्त होता है। बच्चा बाहर जो सीखता है उस अनुभव के साथ स्कूल आ सकता है और उसे ऐसा कुछ मिलता

है जिसे वह दैनिक जीवन में तुरंत इस्तेमाल कर सकता है। बच्चा परंपरागत स्कूल में स्वस्थ शरीर के साथ आता है, कुछ अनिच्छा पूर्वक। वह अपना मन और शरीर दोनों को लेकर स्कूल नहीं आता। वह अपना मन पीछे छोड़ आता है। क्योंकि स्कूल में उसका कोई उपयोग नहीं होता। अगर उसके पास विशुद्ध अमूर्त मन होता तो वह उसे साथ लेकर जरूर आता। लेकिन वह मूर्त होता है। उसकी रुचि मूर्त वस्तुओं में होती है। जब तक ये मूर्त चीजें स्कूल में स्थान नहीं पातीं, वह अपना मन अपने साथ वहां लेकर नहीं आ सकता। हम चाहते हैं कि बच्चा अपना तन-मन यानी संपूर्ण शरीर लेकर स्कूल आए और स्कूल से इससे भी अधिक परिपूर्ण मन व स्वस्थ शरीर लेकर स्कूल से निकले। अब कहा जा सकता है कि इस रेखाचित्र में शरीर को सशक्त बनाने वाले किसी जिम का तो जिक्र नहीं किया गया है। पर जो चारों कोनों में दस्तकारी व शारीरिक क्रियाओं का प्रावधान है वह उनके शरीर को सशक्त रखेगा। साथ ही उनके मन को भी स्वस्थ बनाएगा।

कहने की आवश्यकता नहीं कि भोजनकक्ष और रसोईघर बच्चे को ग्रामीण अंचल से जोड़ते हैं। उसके उत्पादों व उनके बनाने से। खाना बनाना ऐसे सिखाया जा सकता है कि इसका संबंध देहात से नहीं, विज्ञान से है जो भूगोल के एकात्म है। आमतौर पर इन विषयों को इन संबंधों से जोड़कर नहीं पढ़ाया जाता। लेकिन रसोईघर में जो भी सामान आता है वह गांव में उपजता है। वह मिट्टी में उपजता है। पानी व प्रकाश से फलता-फूलता है। वह स्थानीय वातावरण के विभिन्न पहलुओं का प्रतिनिधित्व करता है। यह संबंध खेत या बाग से बाहर की विस्तृत दुनिया में फैलते हैं। इससे बच्चे को विज्ञान के अध्ययन के लिए नितांत प्राकृतिक साधन मिलते हैं। ये वस्तुएं कहां उगती हैं? उनके पनपने के लिए क्या जरूरी था? उनका मिट्टी से क्या

संबंध था? विभिन्न मौसमों का उन पर क्या असर पड़ता है? आदि। हम जानते हैं कि पुराने तरीके की वनस्पति विज्ञान क्या थी। अंशतः कुछ सुंदर फूलों को एकत्र करना। उनको दबाकर रखना। कुछ के टुकड़े-टुकड़े करना। उनके विभिन्न भागों को पारिभाषिक नाम देना। विभिन्न पत्तियों को खोज कर लाना। उनके विभिन्न रूपों व आकारों को नाम देना। यह सब पौधों का अध्ययन था। लेकिन इसमें मिट्टी का कोई जिक्र नहीं होता था। न ही खेत या बगीचे का या उनके वर्धन का। इसके विपरीत पौधों का वास्तविक अध्ययन उनके प्राकृतिक वातारण में जाकर किया जा सकता है। उनके उपयोग का अध्ययन करके किया जा सकता है। केवल भोजन के तौर पर ही नहीं, मनुष्य के सामाजिक जीवन में उनके दूसरे उपयोगों के तौर पर भी। खाना बनाना रसायनशास्त्र के अध्ययन का एक अति स्वाभाविक तरीका हो सकता है। इसमें बच्चे को कुछ ऐसा मिलता है जिसे वह अपने दैनिक जीवन के अनुभव से जोड़ सकता है। एक बार मैंने एक बहुत समझदार महिला को यह कहते सुना कि मैं नहीं समझ पाती हूं कि छोटे बच्चों को विज्ञान कैसे पढ़ाई जा सकती है। वह नहीं समझ पा रही थीं कि बच्चा अणु व परमाणु को कैसे समझेगा। दूसरे शब्दों में वह नहीं समझ पा रही थीं कि अति अमूर्त तथ्यों को उनके दैनिक जीवन के अनुभवों से हटकर कैसे समझाया जा सकता है। वह नहीं समझ पा रही थीं कि आखिर विज्ञान को पढ़ाया ही कैसे जा सकता है। इससे पहले कि हम इस टिप्पणी पर मुस्कराएं, हमें अपने आप से पूछना चाहिए कि क्या ऐसा सवाल करने वाली वह अकेली है? क्या यह हमारे स्कूलों की शिक्षा पद्धति की सामान्य समस्या नहीं।

हमें स्कूल की बढ़ई या वस्त्र बुनकारी की कार्यशाला में बाहरी दुनिया से संपर्क मिलेंगे। ये कच्चे माल के स्रोत के तौर पर देहात से संबंध जोड़ते हैं। ऊर्जा के प्रयोग में ये भौतिकी से

संबंध जोड़ते हैं। ये वाणिज्य व विपणन से संबंध जोड़ते हैं। वास्तु व सजावट के रूप में ये कला से भी संबंध जोड़ते हैं। तकनोलाजी व इंजीनियरी स्कूल के विश्वविद्यालय के विभागों से भी ये संबंध जोड़ते हैं। उसकी प्रयोगशाला वैज्ञानिक क्रियाओं और परिणामों से संबंध जोड़ते हैं।

अब हम उस खाने पर वापस जाते हैं जो (चार्ट 3 ए.) पुस्तकालय के रूप में दिखाया गया है। अगर आप आधे कमरे चारों कोनों में और आधे पुस्तकालय में देखेंगे तो आपको निपठन कक्ष का आभास हो जाएगा। यही वह स्थान है जहां बच्चे अपने अनुभव, समस्याएं, प्रश्न और वे तथ्य लेकर आते हैं जिनका उन्होंने पता लगाया हो। वह उन के बारे में चर्चा करते हैं ताकि दूसरों के अनुभवों के आधार पर उन पर नया प्रकाश डाला जा सके। संसार का एकत्रित ज्ञान ही पुस्तकालय के रूप में मिलता है। यहां सिद्धांत व व्यावहारिक प्रयोग के संबंधों का पता चलता है। बच्चा न केवल कुछ करता है, बल्कि यह भी जानता है कि वह क्या कर रहा है। उसे शुरुआत के लिए एक बौद्धिक अवधारणा मिलती है। यह उसके अभ्यास का हिस्सा बनती है। हरेक विचार प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप में व्यवहार में आकर उसके अनुभव का हिस्सा बनता है। इससे उसका अनुभव समृद्ध होता है। उसके जीवन पर इनका कोई न कोई प्रभाव पड़ता है। इससे पढ़ाई में 'पुस्तक' का स्थान नियत हो जाता है। हालांकि यह अनुभव के विकल्प के रूप में हानिकारक ही है, लेकिन अनुभव के विस्तार के लिए और उसकी व्याख्या के लिए बहुत महत्वपूर्ण है।

अगला चार्ट (4) इसी विचार को दर्शाता है। यह इस आदर्श स्कूल की ऊपरी मंजिल का प्रतीक है। इसके ऊपरी कोनों में प्रयोगशलाएं हैं। उसके नीचे के कोनों में कलात्मक काम के लिए स्टूडियो हैं। रेखांकन व श्रवण दोनों कलाओं के लिए। जो सवाल या रासायनिक व भौतिकी की समस्याएं रसोईघर या कार्यशाला

चार्ट 4

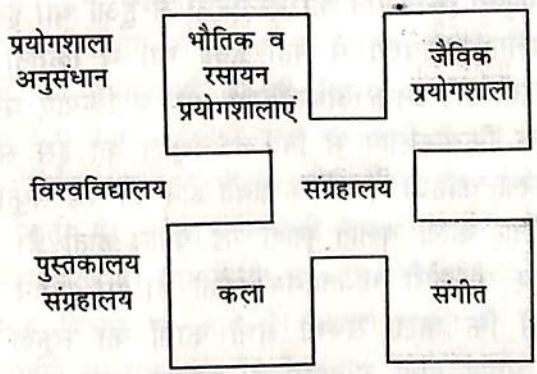

में सामने आती हैं, उनको प्रयोगशाला में समाधान के लिए लाया जाता है। उदाहरण के लिए पिछलें सप्ताह बड़े बच्चों के बुनकारी करने वाले एक ग्रुप ने ट्रेडल और स्पिनिंग व्हील के साथ काम करते हुए बलों की दिशा तथा व्हील और तकली के बीच वेग के अनुपात का रेखाचित्र बनाया। इसी तरह बच्चा भोजन बनाते समय जिन पौधों का इस्तेमाल करता है, वे वनस्पति शास्त्र में उसकी रुचि का ठोस आधार बनते हैं। हो सकता है वह उस विषय को आगे अध्ययन के लिए चुने। बोस्टन के एक स्कूल में विज्ञान की पढ़ाई महीनों तक कपास के पौधे को उगाने तक सीमित रही। फिर भी हर दिन कुछ नया हासिल होता रहा। जो पौधे सिलाई या बुनकारी के लिए सामग्री उपलब्ध कराते हैं, हम उन सभी से ऐसे ही काम की आशा रखते हैं। मुझे उम्मीद है कि इन उदाहरणों से प्रयोगशलाओं के शेष स्कूल से संबंध स्पष्ट हो गए होंगे।

चित्रकला और संगीत, यानी रेखांकन व श्रवण कलाएं, सभी किए जाने वाले कार्य के आदर्शीकरण व परिष्करण की पराकाष्ठा का प्रतिनिधित्व करती है। जिसका नितांत साहित्यिक दृष्टिकोण न हो, वह सहमत होगा कि वास्तविक कला का जन्म कलावंत के

कार्य से ही होता है। पुनरुत्थानकाल की कला महान थी। क्योंकि इसका जन्म कलावंत के जीवन की दस्तकारी से हुआ था। इसका जन्म किसी अलग वातावरण में नहीं हुआ था। वे कितनी भी आदर्श क्यों न रही हों, उनके अध्यात्मिक अर्थ व क्रियाएं घर व जीवन के दैनिक क्रियाकलाप से निकले। स्कूल को इस संबंध का अनुसरण करना चाहिए। केवल कलावंत होने का पक्ष संकुचित है। कला के लिए कला बलात लादी गई प्रतीत होती है। यह शून्यता लिए हुए व कोरी भावनात्मक होती है। मेरे कहने का मतलब यह नहीं कि कला संबंधी सभी कामों का स्कूल के अन्य कामों से संपर्क होना अनिवार्य है। लेकिन इतना जरूर है कि संबंधों की भावना कला को ऊर्जा प्रदान करती है। उसमें अन्य कामों की समृद्धि और गहराई का समावेश होता है। प्रत्येक कला में हमारे अंग, आंखें, हाथ, कान व आवाज काम करते हैं। लेकिन फिर भी यह इन अवयवों की अभिव्यक्ति की तकनीकी क्षमता से कहीं बढ़कर होती है। इसमें एक विचार, वस्तुओं के प्रति आध्यात्मिक दृष्टिकोण होता है। यह अन्य विचारों के समूहों से भी भिन्न होती है। यह विचार व अभिव्यक्ति के उपकरण के माध्यम से विचार का जीवंत संयोग बनाती है। इस संयोग के संदर्भ में कहा जा सकता है कि आदर्श स्कूल में कला कार्यशाला, पुस्तकालय व संग्रहालय से निसृत होकर अस्तित्व में आती है।

इस तरह के संश्लेषण के उदाहरण के लिए वस्त्र निर्माण कक्ष को लीजिए। मैं भविष्य के एक स्कूल की बात कर रहा हूं। जो आशा करता हूं कभी होगा। कक्षा में आधारभूत तथ्य यह है कि वह एक कार्यशाला है। वहां सिलाई, कताई, बुनकारी का वास्तविक काम होता है। यहां बच्चों का सामग्री के साथ सीधा संपर्क होता है। उनका विभिन्न सामग्रियों से संपर्क होता है। रेशम, सूत, लिनन और ऊन से। इन वस्तुओं से संबंधित जो भी जानकारी है वह तुरंत सामने आ जाती है। वे कहां पैदा होती हैं, उनका

इतिहास, प्रयोग विशेष के लिए उनका रूपांतरण और विभिन्न प्रकार की उन मशीनों के बारे में जानकारी जिनके द्वारा यह कच्चा माल प्रयोग में आता है। इसके व्यावहारिक प्रयोग व सिद्धांतों की समस्याओं से ही विषय ज्ञान हो जाता है। यह संस्कृति कम पनपी? इसकी कुछ जानकारी तो इन सब चीजों को उनकी वैज्ञानिक व ऐतिहासिक परिस्थितियों के परिप्रेक्ष्य में देखने से हो जाती है। बच्चा तकनीकी उपलब्धि के रूप में उनको देखता-समझता है। इस क्रिया में भाग लेते हुए उसे कक्ष में ही कलात्मक विचार भी आते हैं। आदर्श स्कूल में कुछ ऐसा ही होगा। पहले तो एक संपूर्ण औद्योगिक संग्रहालय। इसमें उत्पादन के विभिन्न चरणों में काम आने वाले कच्चे माल के नमूने होंगे। इनके प्रयोग की सरलतम से लेकर जटिलतम प्रक्रियाओं का प्रदर्शन, उनके बाद उन दृश्यों व भूदृश्यों के चित्र जहां से यह कच्चा माल आता है, उनके मिलने व उत्पादन के स्थान आदि के चित्र। इस तरह का संग्रह कला, विज्ञान व उद्योग की एकसाथ निरंतर शिक्षा देने का साधन बनेगा। इनके साथ ही वस्त्र उद्योग के बेहतर व अधिक निर्दोष नमूने भी रखे जा सकते हैं जो जापान, इटली, फ्रांस के हो सकते हैं। ऐसे उपकरण हो सकते हैं जो डिजाइनों व सजावट के मोटिफ दर्शाते हों जोकि उत्पादन में इस्तेमाल होते हैं। साहित्य इसमें अपनी भूमिका निभाएगा। वह संसार की आदर्श उत्पादक इकाइयों की जानकारी देगा। जैसाकि पिनियोपल व ओडिसी में है। आखिरकार साहित्य सामाजिक जीवन के किसी औद्योगिक चरण को ही तो प्रतिबिंबित करता है। लिहाजा होमर से लेकर वर्तामान काल तक ऐसे संबंधित तथ्य रहे हैं जो कला में अनूदित हुए। संगीत भी इसमें अपना योगदान देता है। जो स्काटलैंड के चक्र के गीत से लेकर मार्गरेट या वैग्नर के सेंटा तक जाता है। कार्यशाला एक नयनाभिराम सचित्र संग्रहालय बन जाती है। इसमें केवल सामग्री ही नहीं होगी, सुंदर लकड़ियां

व डिजाइन ही नहीं होंगे, बल्कि यह वास्तुशास्त्र के ऐतिहासिक विकास का अपने रेखाचित्रों व चित्रों के माध्यम से संक्षिप्त ब्योरा भी प्रस्तुत करेगा।

इस तरह मैंने यह बताने की कोशिश की है कि स्कूल को जीवन के साथ कैसे जोड़ा जा सकता है। इससे बच्चा सामान्य स्थानों पर जो अनुभव पाता है उनको स्कूल तक ले जाकर उनका उपयोग कर सकता है। इसी तरह वह जो कुछ स्कूल में सीखता है, दैनिक जीवन में उसका उपयोग कर सकता है। इस तरह स्कूल एक संपूर्ण सुघटित संस्थान बनता है न कि किन्हीं विलग भागों का समुच्चय। इस तरह पृथक अध्ययन व स्कूल की शिक्षा पद्धति के पृथक भाग लुप्त हो जाते हैं। अनुभवों का अपना भौगोलिक पहलू होता है, कलात्मक व साहित्यिक पहलू भी। उसके वैज्ञानिक व ऐतिहासिक पक्ष भी होते हैं। सारे अध्ययन एक धरती और उस पर एक जीवन के पहलू से निसृत हैं। हमारे पास अलग-अलग पृथ्वियां नहीं हैं। जिनमें एक अंकगणित के लिए हो, दूसरी भौतिकी के लिए, तीसरी इतिहास के लिए, आदि। हमें इनमें से किसी एक के साथ संबंधित होकर बहुत देर तक नहीं जीना चाहिए। हम एक ऐसे संसार में रहते हैं जहां सभी पक्ष परस्पर बंधे हैं। एक महान साझी धरती पर सभी अध्ययन परस्पर संबंधित होकर विकसित होते हैं। जब बच्चा इस साझी धरती से संबंधों की विविधता के साथ जीता है तो उसके अध्ययन सहज रूप से एकीकृत हो जाते हैं। तब अध्ययन को आपस में संबंधित करने की समस्या नहीं होती। टीचर को इतिहास के पाठ में थोड़ा सा अंकगणित मिलाने के लिए तब कई तरकीबें नहीं खोजनी पड़तीं। स्कूल का संबंध जीवन से जोड़ो तो सभी अध्ययनों का संबंध परस्पर जुड़ जाएगा।

इसके अलवा अगर स्कूल को जीवन की संपूर्णता से जोड़ दिया जाए तो इसके विभिन्न लक्ष्य व आदर्श–संस्कृति, विषय

ज्ञान, सूचना, उपयोग–ये सभी भिन्न-भिन्न नहीं रहते। जिनमें हरेक के अध्ययन के लिए हमें अलग-अलग विषय चुनना पड़ता है। बच्चे का विकास जब सामाजिक क्षमता व सेवा में होता है तो उसका जीवन से जीवंत संपर्क बनता है। विषय ज्ञान, संस्कृति, सूचना आदि इस विकास के विभिन्न चरणों के रूप में अपने स्थान पर स्वयं आ जाते हैं।

हमारे विशिष्ट स्कूल के विश्वविद्यालय से संबंध के बारे में मैं थोड़ा और कहना चाहूंगा। समस्या शिक्षा को सुव्यवस्थित करने की है। उसके विभिन्न कारकों को परस्पर जोड़ने की है। उस संपूर्ण को दैनिक जीवन के जैविक संपूर्ण के साथ संबद्ध करने की है। विश्वविद्यालय के शिक्षाशास्त्रीय स्कूल के पृष्ठ में एक ऐसा माडल तैयार करने आवश्यकता है जो इस तरह का एकीकरण दे सके। जिसका विस्तार चार साल के बच्चे के कार्य से लेकर उसके विश्वविद्यालय का स्नातक होने तक हो। वैज्ञानिक कार्य के आयोजन में हमें विश्वविद्यालय से बहुत सहायता मिलती है। कई बार उनके विभागाध्यक्षों से बहुत विस्तार में भी। स्नातक विद्यार्थी हमारे पास अपना शोध, शोध की प्रक्रिया आदि लेकर आता है। वह अपने विचार व समस्याएं हमारे सामने रखता है। पुस्तकालय व संग्रहालय की सुविधा भी उपलब्ध होती है। हम सभी शिक्षा संबंधी वस्तुओं को इकट्ठा लाना चाहते हैं। हम छोटे बच्चे की पढ़ाई और वयस्क हो चुके युवा के अध्ययन के बीच के अवरोध को समाप्त करना चाहते हैं जो निम्न व उच्च शिक्षा में भेद करता है। हम चाहते हैं कि हमें एक ही चीज दिखे, ऊंची-नीची नहीं सिर्फ शिक्षा।

कार्य के शिक्षाशास्त्रीय पहलू पर विशेष रूप से बात करें तो मेरे खयाल में हमारे देश में इस विषय की सबसे पुरानी चेयर करीब 20 साल पहले की मिशिगन विश्वविद्यालय की है। इसे सत्तर के दशक के उत्तरार्ध में स्थापित किया गया था। लेकिन

मुश्किल से एक या दो ने ही सिद्धांत और व्यवहार में संबंध स्थापित करने की कोशिश की है। अधिकांशतः सिद्धांत ही पढ़ाते हैं, व्याख्यान के द्वारा। पुस्तकों का हवाला देकर, न कि वास्तविक कार्य के माध्यम से। कोलंबिया में शिक्षकों के कालेज के द्वारा शिक्षकों के प्रशिक्षण और विश्वविद्यालय में घनिष्ठ संबंध है।

एक या दो और जगहों पर भी कुछ ऐसा हुआ है। हम चाहते हैं कि वहां और भी एकात्मता हो। ताकि विश्वविद्यालय अपने सब संसाधन प्राथमिक स्कूल के लिए मुहैया करा सके। वह पढ़ाने के सही तरीके और महत्वपूर्ण विषय सामग्री का सहयोग दे। उधर स्कूल ऐसी प्रयोगशाला की भूमिका अदा करे जिसमें छात्र सिद्धांतों व विचारों को प्रत्यक्ष प्रदर्शित होते देखें, उनका परीक्षण, आलोचना, लागू होना व नए सत्यों का विकसित होना देखें। विश्वविद्यालय के साथ संबंध में हम चाहते हैं कि स्कूल एकीकृत शिक्षा के एक वर्किंग माडल का काम करे।

शिक्षा संबंधी सामान्य रुचियों के स्कूल से संबंध पर कुछ शब्द कहना चाहता हूं। एक बार मैंने अपने स्कूल में इस्तेमाल किए जाने वाले तरीके पर एक टीचर को इस तरह एतराज करते सुना, ''यह एक प्रायोगिक स्कूल है। यहां लोग उन परिस्थितियों में काम नहीं करते जिनके हम अभ्यस्त हैं।'' प्रयोग करने का उद्देश्य यह होता है कि किसी दूसरे को बहुत अधिक प्रयोग न करना पड़े। उसे एक निर्धारित दिशा मिल जाए। किसी प्रयोग के लिए अनुकूल स्थितियां होनी चाहिए ताकि परिणाम सरलता से व निश्चितता से सामने आ सके। इसका काम निर्बाध होना चाहिए और उसके लिए साधन सुलभ होने चाहिए। आज के हर व्यावसायिक प्रतिष्ठान के पीछे प्रयोगशालाएं होती हैं। उनको व्यावसायिक जीवन की दरकार नहीं होती, न ही व्यवसाय को प्रयोगशाला के तौर पर दोहरा कर चलाया जाता है। किसी नए सत्य के लिए काम करने और उसका पता लगाने तथा उसे बड़े पैमाने पर लागू करने में

अंतर होता है। अंतर होता है उसे बहुसंख्या के उपयोग के लिए प्रस्तुत करने व व्यावसायिक बनाने में। लेकिन पहली शर्त तो सत्य की खोज है। इसके लिए सभी आवश्यक सुविधाएं होनी चाहिए। क्योंकि संसार में यही सबसे व्यावहारिक चीज है। हम दूसरे स्कूलों से यह उम्मीद नहीं करते कि वे एकदम वही करें जो हम कर रहे हैं। वर्किंग माडल हूबहू नकल करने के लिए नहीं होता। यह तो किसी सिद्धांत की शक्यता दर्शाने के लिए होता है। उन तरीकों को दर्शाने के लिए होता है जो इसे व्यवहार्य बनाते हैं। लिहाजा (अपनी बात पर लौटें तो) हम यहां एकात्मता की समस्या पर काम कर रहे हैं। स्कूल की शिक्षा पद्धति को सुसंगठित व्यवस्थित करने की समस्या पर। ऐसा हम जीवन के साथ उसका संबंध जोड़ कर कर रहे हैं। यह दर्शाने के लिए कि सभी तरह की शिक्षा की संभावना ऐसे संस्थान से संभव है।

4

विश्वविद्यालय प्राथमिक स्कूल के तीन साल

इस स्कूल को आज से तीन साल पहले पहली जनवरी के पहले सप्ताह में शुरू किया गया था। मैं आज उन विचारों व समस्याओं के बारे में संक्षेप में चर्चा करूंगा जो इस प्रयोग को आरंभ करते समय सामने थीं और तब से कार्य की प्रगति के बारे में भी बताऊंगा। हमने 57वीं स्ट्रीट के एक छोटे से घर में 15 बच्चों के साथ काम शुरू किया। अगले साल हम 25 बच्चों के साथ किंबार्क एवेन्यू में थे। उसके बाद जनवरी में हम 40 बच्चों के साथ इससे बड़े भवन में रोजीले कोर्ट में चले गए। इस साल हम लोग 5412 एलिस एवेन्यू में हैं। हमारे यहां 95 बच्चे हैं। हम आशा करते हैं कि जब तक हमारा अपना भवन और जमीन नहीं होती हम यहीं रहेंगे।

स्कूल के पहले साल में बच्चे छः और नौ साल के आयु वर्ग में थे। अब वे चार से तेरह साल के आयु वर्ग में हैं। इनमें से सबसे अधिक आयु के सदस्य अपने तेरहवें साल में हैं। यह पहला साल है जब हमारे पास छः साल से कम उम्र के बच्चे हैं। यह हमारे होनोलुलू के मित्रों एच.आई. की उदारता के कारण संभव हुआ है। ये लोग वहां भी इसी तरह का एक स्मारक किंडरगार्टेन बना रहे हैं।

पहले साल के दो सत्रों का स्कूल का खर्च 1300 डालर से

1400 डालर के बीच था। इस साल का खर्च लगभग 12,000 डालर बैठेगा। इसमें से 5,000 डालर की आय ट्यूशन से आएगी। 5,000 डालर स्कूल में दिलचस्पी रखने वाले मित्रों ने दिए हैं। अभी भी स्कूल चलाने के लिए 1500 डालर और एकत्र करने बाकी हैं। इस बात का संकेत है कि खर्च बढ़ गए हैं। छात्रों के लिए खर्च आरंभ जितना ही है, 120 डालर प्रति बच्चा प्रति वर्ष। इस साल स्कूल का खर्च अचानक बढ़ गया। नए भवन में जाने का खर्च। उसके लिए आवश्यक मरम्मत आदि का खर्च। शिक्षकों का स्टाफ बढ़ाने से स्कूल का खर्च बढ़ा। अगले साल हम उम्मीद रखते हैं कि हमारे पास 120 बच्चे होंगे। इससे हमारे खर्च में भी 2500 डालर की बढ़ोत्तरी होगी। इसमें से 2000 डालर की पूर्ति बच्चों की ट्यूशन में बढ़ोत्तरी से हो जाएगी। 120 डालर प्रतिवर्ष की बच्चों को विश्वविद्यालय में पढ़ाने की लागत स्कूल में बच्चों से ली जाने वाली औसत फीस का दोगुना है। लेकिन यह उम्मीद नहीं की जा सकती कि विश्वविद्यालय में ली जाने वाली फीस वहां होने वाले खर्च के आसपास हो सकती है। अगर इसे उचित भी समझा जाए तो यहां ट्यूशन फीस न बढ़ाने का एक कारण इस बात पर जोर देना भी है कि विश्वविद्यालय की प्राथमिक व उच्च स्तर की शिक्षा के लिए वृत्तिदान की आवश्यकता होती है। इसके पर्याप्त कारण हैं कि धन को शिक्षा का आधार बनाने व बाद के चरणों के लिए खुले हाथों खर्च किया जाए।

आरंभ से ही प्राथमिक स्कूल के दो पक्ष रहे हैं। एक तो जाहिर ही है कि उन बच्चों को शिक्षा देना जिनकी इसमें रुचि है। दूसरा विश्वविद्यालय से उसका संबंध। स्कूल विश्वविद्यालय के अधीन है और उसके शिक्षाशास्त्रीय विभाग से संबंध रखता है। स्कूल के आरंभ करते समय मन में कुछ विचार थे। शायद यह कहना अधिक उपयुक्त होगा कि कुछ प्रश्न और समस्याएं मन में थीं। कुछ बिंदु थे जिनका परीक्षण करना महत्वपूर्ण था। कई बार

ऐसा कहा जाता है कि स्कूल के आरंभ करते समय कुछ तैयारशुदा विचार और सिद्धांत थे जिनको तुरंत अमल में लाना था। ऐसा आमतौर पर माना जाता रहा है कि इन तैयार शुदा विचारों और सिद्धांतों का जन्मदाता मैं रहा हूं जिन पर अमल कियाा जाना था। मैं यहा बताना चाहता हूं कि स्कूल की पढ़ाई व उसके प्रशासन को चलाने, विषयों की सामग्री का चयन करने, शिक्षा की पद्धति का निर्धारण करने और बच्चों को पढ़ाने का सारा काम स्कूल के टीचर ही करते रहे हैं। यहां शिक्षा पद्धति व सिद्धांतों का धीरे-धीरे विकास हुआ है। यहां कोई तयशुदा उपकरण न थे। अध्यापकों ने यहां प्रश्नचिन्हों से काम शुरू किया, न कि निश्चित नियमों के साथ। उसके बाद अगर हम किन्ही जवाबों तक पहुंचे हैं तो वे हमें स्कूल के अध्यापकों ने ही दिए हैं। हमने शुरुआत ऐसे चार प्रश्नों या समस्याओं से की :

1. स्कूल के घर व पड़ोस के जीवन के साथ निकट संबंध कायम करने के लिए क्या किया जाना चाहिए। ताकि स्कूल ऐसी जगह न बनी रहे जहां बच्चे सिर्फ कुछ पाठ पढ़ने के लिए आते हैं। बच्चे के शेष दैनिक जीवन और स्कूली जीवन के बीच के अवरोध को समाप्त करने के लिए क्या किया जाना चाहिए? इसका मतलब यह नहीं, जैसा कि कई बार समझा जाता है कि बच्चा घर में या अनुभूत चीजों को ज्यों का त्यों स्कूल में ले जाए और उनका अध्ययन करे। लेकिन यह नहीं, बात यह है कि बच्चा यथासंभव उसी प्रवृत्ति के साथ स्कूल जाए, उसे स्कूल में काम करना उतना ही दिलचस्प लगे जैसा कि उसे घर में कुछ काम करना लगता है, जो उसके घर या पासपड़ोस के जीवन में खेलने या अन्य कामों में व्यस्त रहने के दौरान दिलचस्प लगते हैं। ताकि बच्चे को स्कूल के लिए जीवन से अलग किस्म के सिद्धांत व कार्यकलाप न अपनाने पड़ें। यह बच्चे के सिद्धांतों व लक्ष्यों संबंधी अनुभवों की एकात्मकता का सवाल है।

2. इतिहास, विज्ञान व कला की विषय सामग्री में ऐसा क्या किया जा सकता है जिससे बच्चे के जीवन में उनका वास्तविक महत्व और सार्थकता बने। उनमें कुछ ऐसा हो जिससे बहुत छोटे बच्चों को भी किसी महारत या ज्ञान को प्राप्त करने का एहसास हो। कुछ ऐसा जिससे इस तरह का एहसास हाई स्कूल या कालेज के विद्यार्थी को होता है। आप जानते हैं कि पहले कुछ सालों का परंपरागत पाठ्यक्रम कैसा होता है। हालांकि उसमें अब काफी संशोधन किए जा चुके हैं। इसके बारे में एकत्र किए गए कुछ आंकड़ों से पता चलता है कि किसी बच्चे के स्कूल में पहले तीन वर्षों का 75 से 80 प्रतिशत पढ़ने, लिखने व अंकगणित के प्रतीक चिन्हों को सीखने में लगता है। यानी रूपाकारों को सीखने में जाता है न कि ठोस तत्व को जानने में। इसमें अधिक पोषकता नहीं। इसका उद्देश्य महत्वपूर्ण व आवश्यक है। लेकिन यह किसी बच्चे के बौद्धिक व नैतिक विकास का वैसा प्रतिनिधित्व नहीं करता जो इतिहास या प्रकृति के सार्थक सत्य से उसके साक्षात्कार से होता है। या फिर जैसा सौंदर्य व वास्तविकता की अतिरिक्त अंतर्दृष्टि मिलने से होता है। हमें एक बात का पता लगाना चाहिए कि बच्चे को उसके आसपास के संसार के बारे में और विश्व की शक्तियों के बारे में कितना ज्ञान दिया जाना चाहिए जो उसके लिए सचमुच उपादेय हो। जो ऐतिहासिक व सामाजिक विकास से संबद्ध हो जिससे बच्चा कलात्मक माध्यमों से अपने आप को व्यक्त करने की क्षमता अर्जित कर सके। शिक्षा के दृष्टिकोण से यह स्कूल की प्रमुख समस्या रही है। हम इसी दिशा में सामान्य शिक्षा में अपना योगदान देने की उम्मीद रखते हैं। हम इसका समाधान खोज कर तत्संबंधी सामग्री का प्रकाशन करना चाहते हैं जो सरलता से उपलब्ध हो।

3. दैनिक अनुभवों व पेशेगत काम की पृष्ठभूमि के माध्यम से इस तरह की पढ़ने, लिखने व अंकों के प्रयोग में महारत

हासिल करने की औपचारिक निर्देशों को कैसे दिया जा सकता है? जिसका अधिक अंतर्दिष्ट विषयवस्तु वाले विषयों के साथ भी संबंध जोड़ा जा सके। इस को इस तरीके से संचालित किया जाए कि बच्चे को उनकी आवश्यकता का भान हो। जो विषय बच्चे को रुचिकर लगते हैं उनके साथ इनका संबंध जुड़े। अगर ऐसा किया जा सके तो बच्चे को तकनीकी कुशलता हासिल करने का उद्देश्य मिल जाएगा। इसका मतलब यह नहीं है, जैसा कि कई बार मजाक में कहा जाता है कि बच्चे को स्कूल में खाना बनाना और सिलाई करना सिखाया जाए और घर पर लिखना, पढ़ना और अंक ज्ञान सिखाया जाए। इसका उद्देश्य यह है कि इन विषयों की भारी खुराक इस तरह पेश न की जाए कि वे अलग से कोई औपचारिक विषय हैं जिनकी तरफ विशेष ध्यान देने की जरूरत होती है। बच्चे को उन प्रतीक चिन्हों के प्रयोग में कुशल होना सिखाया जाता है जो तुरंत शक्ति प्रदान करते हैं। अगर बच्चा अंक ज्ञान और भाषा के प्रयोग के महत्व को समझ लेता है तो वह इस महारत को हासिल करने का सबसे लंबा कदम आगे बढ़ाता है। वह उस उद्देश्य को समझ लेता है कि इन प्रतीक चिन्हों का विशिष्ट इस्तेमाल है, न कि कोई सामान्य और दूरगामी इस्तेमाल।

4. व्यक्तिगत रूप से ध्यान देना। इसमें ग्रुप छोटे रखकर सफलता पाई जा सकती है। एक कक्षा में आठ या दस। साथ ही टीचरों की बड़ी संख्या जो बच्चे की प्रगति, शारीरिक स्वस्थता, उपलब्धियों और व्यक्तिगत आवश्यकताओं पर ध्यान दे सकें। इसके लिए अब हम प्रति सप्ताह शिक्षण के लिए 135 घंटे का समय दे रहे हैं। यानी नौ टीचर प्रतिदिन तीन घंटे, या एक टीचर प्रति ग्रुप। अब थोड़े से शब्दों में ही व्यक्तिगत महारत व आवश्यकताओं के बारे में कुछ बताया जा सकता है। फिर भी स्कूल के नैतिक, शारीरिक व बौद्धिक उद्देश्य इसमें शामिल रहते हैं।

मेरे खयाल में हम जो खोजना चाँह रहे हैं उसका स्पष्टीकरण इन चार बिंदुओं से हो जाता है। स्कूल को अक्सर प्रायोगिक स्कूल कहा जाता है। एक मानी में यह नाम उपयुक्त भी है। पर मैं इसका ज्यादा इस्तेमाल नहीं करना चाहता। मुझे आशंका है कि इससे माता-पिता समझेंगे कि हम बच्चों पर प्रयोग कर रहे हैं और वे स्वभावतः इसका विरोध करेंगे। यह प्रयोगात्मक स्कूल तो है। पर शिक्षा और शिक्षा संबंधी समस्याओं को लेकर। हमने कोशिश करके, कुछ करके, न कि कोरी चर्चा करके या सिद्धांतों के द्वारा–यह जानने की कोशिश की है कि क्या इन समस्याओं का समाधान हो सकता है।

अब हम साधनों की संक्षिप्त चर्चा करेंगे जो इन चार प्रश्नों के परीक्षण व इनके उत्तर पाने के लिए स्कूल में प्रयोग में लाए जा रहे हैं। स्कूल में दस्तकारी का प्रत्यक्ष ज्ञान कराने के लिए तीन मुख्य धाराओं के अनुसार काम किया जा रहा है। 1. लकड़ी और औजारों के साथ कर्मशाला। 2. खाना बनाने का काम। 3. वस्त्रों का काम, बुनकारी सिलाई। इसके अलावा विज्ञान से संबंधित हाथ का काम भी है। क्योंकि विज्ञान मुख्यतः प्रयोगात्मक होती है। शायद यह बात आपके ध्यान में न आई हो कि श्रेष्ठ और अति विकसित वैज्ञानिक कार्य के लिए हाथ से काम करने की कुशलता की बहुत आवश्यकता होती है। इसके लिए आंखों और हाथ के प्रशिक्षण की आवश्यकता होती है। सामग्री व उपकरणों के साथ काम करने के इस प्रशिक्षण के बिना विज्ञान में अच्छा कार्मिक होना असंभव है। इतिहास में खासतौर पर छोटे बच्चों के लिए उपकरण, हथियार और औजार बनाने का मेहनत का काम शामिल है। कला पक्ष अलग है। इसमें पेंटिंग, रेखाचित्र बनाना और माडलिंग शामिल है। यहां जिम्नेजियम नहीं है। लेकिन शरीर के माध्यम से नैतिक व बौद्धिक नियंत्रण पाने के लिए यहां निश्चय ही कार्य होता है। बच्चों को रोज आधा घंटा इस तरह

का शारीरिक अभ्यास कराया जाता है। हमने पता लगाया है कि इस तरह बड़े पैमाने पर कड़ी मेहनत करने से बच्चे में स्कूल में और इसके बाहर इस तरह की प्रवृत्ति बनाए रखी जा सकती है। इस तरह की शारीरिक गतिविधियों से बच्चा अपनी अधिकांश उपलब्धियों को हासिल कर लेता है, जब तक कि वह विधिवत बौद्धिकता के साथ काम करना नहीं सीख लेता। स्कूल में इस तरह के काम का यही उद्देश्य है। इस तरह की गतिविधियों को निर्देशित करना। उनको व्यवस्थित करना। ताकि वे उस तरह बेतरतीब और बिखरी हुई न हों जैसी कि स्कूल के बाहर होती हैं।

इस तरह की व्यावहारिक गतिविधियों वाले काम को निरंतर और एकसाथ करने में समस्या एक तरह की महारत से दूसरी तरह की महारत तक ले जाने की रहती है। एक बौद्धिक कठिनाई से दूसरी तक ले जाने की। यही सब से कठिन समस्या रही और इसी में हम सबसे अधिक सफल रहे। बढ़ईगिरी, खाना बनाना, सिलाई, बुनकारी, अलग-अलग किस्म की कुशलताएं हैं जो बच्चों के लिए बौद्धिकता की अलग-अलग प्रवृत्तियों की अपेक्षा रखती हैं। ये राजमर्रा की बाहरी जिंदगी की बहुत महत्वपूर्ण गतिविधियां हैं। ये घर की, छत की सुरक्षा के नीचे रहने, दैनिक भोजन व वस्त्र की आवश्यकताओं, व्यक्तिगत चेष्टाओं और वस्तुओं के आदान-प्रदान से संबंध रखती हैं। उसे ज्ञानेंद्रियो के प्रयोग का अभ्यास भी होता है। वह स्पर्श, दृष्टि तथा हाथ व आंख में तालमेल करना सीखता है। उसे स्वास्थ्यवर्द्धक अभ्यास करने को मिलते हैं। आखिरकार बच्चे को उससे कहीं अधिक शारीरिक गतिविधियां चाहिए जो आम स्कूल में उसे हासिल होती हैं। इसके अलावा साधनों के जरीए अभीष्ट की प्राप्ति में स्मरण, निर्धारण आदि का भी विकास होता है। इससे आदतों में अनुशासन आता है। औजारों व बर्तनों के रखरखाव के जरीए मेहनत करना

व स्वच्छता बनाए रखना आता है। इससें किसी कार्य को बेतरतीब करने के बजाय व्यवस्थित तरीके से करने की कुशलता आती है। इसके अलावा ये व्यावहारिक कार्य आने वाले कुछ विशिष्ट अध्ययनों के लिए पृष्ठभूमि बनाते हैं। बच्चे खाना बनाने में रसायन शास्त्र, बढ़ईगिरी में ज्यामिति के कई सिद्धांत और बुनकारी व सिलाई के कार्य के दौरान भूगोल का बहुत सा ज्ञान प्राप्त करते हैं। कई तरह के आविष्कारों के मूल व विकास को समझने के दौरान इतिहास और सामाजिक व राजनीतिक संगठनों पर उसके प्रभाव का ज्ञान मिलता है।

शायद हमारे दूसरे बिंदु सार्थक विषयवस्तु पर दूसरी बातों की अपेक्षा अधिक ध्यान दिया गया है। इतिहास का पाठ्यक्रम बहुत अच्छी तरह तैयार किया गया है। छोटे बच्चे इसकी शुरुआत घर और घर पर होने वाले कार्य से करते हैं। छठे साल में उम्मीद की जाती है कि बच्चे घर के बाहर के पेशों के बारे में सीखें। बृहत्तर सामाजिक उद्योगों– कृषि, खनन, इमारती लकड़ी आदि के बारे में। वे उन विभिन्न व जटिल सामाजिक उद्योगों को देखें जिन पर जीवन आधारित है। साथ ही वे उस सारी सामग्री लकड़ी, धातुओं व उनके प्रयोग की क्रियाओं को भी जानें जिससे उनके वैज्ञानिक अध्ययन की शुरुआत हो। अगला साल उद्योग व अनुसंधान के ऐतिहासिक विकास को दिया जाता है। इसकी शुरुआत आदि मानव से करके उसके क्रमिक विकास के साथ आगे बढ़ते हैं जब तक कि लौह युग नहीं आ जाता जब मानव ने सभ्यता के युग में प्रवेश किया था। आदिम जीवन का अध्ययन कराने का उद्देश्य बच्चे की अपेक्षाकृत जंगली स्थितियों में रुचि जगाना नही है। बल्कि इसका उद्देश्य इसे प्रगति व विकास के सोपानों से परिचित कराना है जिनसे होकर मानव सभ्यता तक पहुंचा। आखिरकार बच्चे के जीवन और आदिम मानव के जीवन में किसी तरह की निकटता तो होती है। वे वर्तमान संस्थानों से कहीं

अधिक सरल हैं। मानव के विकास पर प्रकाश डालने और उन तरीकों को बताने से जिनसे प्रगति हुई, हम आशा करते हैं कि जंगली जीवन की कर्कशता व अनगढ़ता के प्रति जो विरोध की भावना और उत्तेजना पैदा होती है उसे कुछ कम किया जा सकता है।

अगले दो-तीन साल यानी चौथी और पांचवीं कक्षा या संभवतः छठी भी, अमेरिका का इतिहास पढ़ाने में लगेगी। तभी सही मानी में इतिहास का अध्ययन शुरू होगा। क्योंकि आदि मानव के समय की गाथा इतिहास नहीं कही जा सकती।

उसके बाद यूनान व रोम का इतिहास आता है। अपने काल-क्रमानुसार। इसमें हर साल का काम सुनियोजित होगा जिसमें पहले के अध्ययन और बाद में आने वाले काल की झलक रहेगी।

विज्ञान के कार्य को व्यवस्थित करना और उसका सिलसिला बैठाना ज्यादा मुश्किल था। क्योंकि इसमें व्यवस्थित तरीके से बहुत कम काम हुआ है जिसका कि अनुसरण किया जा सके। अब हम एक कार्यक्रम पर काम कर रहे हैं।[2] लेकिन मैं इसके विस्तार में नहीं जाऊंगा। पहले दो या तीन साल बच्चे की अवीक्षण शक्ति का विकास करने में लगते हैं। इससे उनमें पौधों वे पशुओं के स्वभाव के बारे में दिलचस्पी जगती है। वे वस्तुओं को उनके उपयोग के संदर्भ में देखना सीखते हैं। इसके बाद काम का केंद्र भूगोल बनता है। इसमें पृथ्वी का अध्ययन आता है जो सबसे अधिक केंद्रीय वस्तु है। यहीं से लगभग सारा कार्य विकसित हो कर निकलता है और इसी में वापस आता है। विज्ञान में एक और कार्य प्रकृति की शक्तियों का मशीनों के माध्यम से मानव की सेवा में उपयोग है। पिछले साल विद्युत पर काफी काम किया गया। (इस साल इसे दोहराया जाएगा।)। इसमें टेलिग्राफ व टेलीफोन को आधार बनाया जाएगा ताकि जो बातें आसानी से समझी जा सकें उनको लिया जाए।

मैकेनिक्स में उनको तालों व घड़ियों का अध्ययन कराया गया। इसमें उनको मशीन के विभिन्न पुर्जों के उपयोग की जानकारी दी गई। यह सारा काम बात में अधिक औपचारिक भौतिकी के अध्ययन के लिए बहुत अच्छी पृष्ठभूमि बनाता है। खाना बनाना पानी और ताप के बारे में और उनके प्रभाव के बारे में बहुत जानकारी देता है। यह वैज्ञानिक कार्य दूसरे स्कूलों के वैज्ञानिक कार्य से बहुत भिन्न है जिनमें भौतिकी व रसायन शास्त्र पर जोर देकर प्रयोग कराए जाते हैं और जो पौधों व पशुओं के प्राकृतिक अध्ययन तक सीमित नहीं होता।

अगर मैं संगीत व कला के बा रे में अधिक नहीं कहता तो मेरा मतलब यह नहीं कि ये मूल्यवान नहीं। ये भी निश्चय ही स्कूल के अन्य कार्यों जितने महत्वपूर्ण ही हैं। ये केवल बच्चे का नैतिक व सौंदर्यपरक विकास करते हैं बल्कि इनका बौद्धिक महत्व भी है। स्कूल में कोई दूसरा काम ऐसा नहीं जो एकाग्रता व अवीक्षण की शक्ति की विकास करता हो और परंपरगत तरीके से हिस्सों का संपूर्ण से संबंध जोड़ता हो।

अब मैं स्कूल के प्रशासन के बारे में कुछ कहूंगा। आरंभ से ही हमने विभिन्न आयुवर्ग व उपलब्धियों वाले बच्चों को यथासंभव मिलाया। हमारा विश्वास था कि इस आदान-प्रदान का मानसिक लाभ होगा। इसके साथ ही बड़े बच्चे छोटों के प्रति कुछ जिम्मेदारी लेंगे तो इसका नैतिक लाभ भी होगा। जब स्कूल बड़ा हुआ तो हमें इस तरीके को छोड़ना पड़ा क्योंकि तब बच्चों को उनकी एक सी क्षमता के अनुरूप ग्रुपों में बांटना आवश्यक हो गया। यह वर्गीकरण लिखने-पढ़ने की क्षमता पर आधारित नहीं था। बल्कि यह मानसिक प्रवृत्तियों व रुचियों पर आधारित था। यह सामान्य मानसिक सतर्कता व बौद्धिक क्षमता पर आधारित था। अब भी कुछ तरीके हैं जिनके अनुरूप हम बच्चों को आपस में मिलाना चाहते हैं। जैसे कि हम स्कूल की सोपान पद्धति को न अपना

कर ग्रेड का सिस्टम खत्म करके चलें। इसका एक तरीका यह भी है कि बच्चे घूमें और विभिन्न अध्यापकों के संपर्क में आएं। हालांकि इसमें कठिनाइयां व बुराइयां हैं, लेकिन मेरे विचार में बच्चों का विभिन्न व्यक्तित्व वालों से निकट संबंध रखना बहुत उपयोगी है। बच्चे आम सभाओं में भी स्कूल में एकसाथ होते हैं। जैसे गाने के लिए या सारे स्कूल के काम की रिपोर्ट के समय जिसे विभिन्न ग्रुपों के सदस्य पढ़ते हैं। बड़े बच्चों को सप्ताह में आधा घंटा कुछ छोटे बच्चों के ग्रुप से मिलने के लिए दिया जाता है। और अगर संभव हो तो वे जैसा कि दस्तकारी में होता है छोटे बच्चों के काम में भी शामिल होते हैं। अनेक प्रकार से हम स्कूल में अलग-अलग कक्षाओं के स्थान पर परिवार का परिवेश बनाने की कोशिश कर रहे हैं।

शिक्षकों का धीरे-धीरे विभागीकरण होता जा रहा है। मुख्य शाखाओं में काम की आवश्यताओं के कारण ऐसा हुआ है। अतः हमने अब विज्ञान, इतिहास, गृह व घरेलू कलाओं, सीमित अर्थों में दस्तकारी का प्रशिक्षण (काष्ठ व धातु), संगीत, कला (रेखाचित्र, वाटर कलर, क्ले माडलिंग आदि) और जिम्नेजियम। जैसे-जैसे काम माध्यमिक स्तर पर किया जा रहा है, भाषाएं व गणित को भी पृथक स्थान देना आवश्यक हो जाएगा। जैसा कि कई बार कहा जाता है इस आधार पर परस्पर संबंधित व पूर्णतः समन्वित कार्य नहीं किया जा सकता। मुझे यह बताते हुए प्रसन्नता हो रही है कि इसमें मूलभूत कठिनाइयां नहीं हैं। बच्चे के विकास के लिए सामूहिक निष्ठा द्वारा स्कूल के मुख्य उद्देश्यों व पद्धति के प्रति सामूहिक वफादारी से, हमारे शिक्षकों ने साबित कर दिया है कि व्यापार की तरह ही स्कूल में भी श्रम, रुचियों व प्रशिक्षण के स्वाभाविक विभाजन को महत्व देने से श्रेष्ठ संस्था का निर्माण किया जा सकता है। बच्चा हर विषय के विशेषज्ञ के संपर्क में आकर विभिन्न विषयों की जानकारी व ज्ञान का लाभ पाता है।

चूंकि हरेक शिक्षक अलग तरीके से उभयनिष्ठ विचार का विवेचन करता है इसलिए इससे वह कई गुना बढ़कर और भी सुदृढ़ हो जाता है।

नैतिक पक्ष में, जहां कथित अनुशासन व व्यवस्था की बात आती है और जहां कि विश्वविद्यालय स्कूल को गलतफहमियों के चलते सबसे ज्यादा हानि पहुंची है, मैं कहना चाहूंगा कि हमारा उद्देश्य था और आगे भी रहेगा कि हम ग्रेड वाले स्कूल के कठोर विभाजन की जगह परिवार का सर्वश्रेष्ठ परिवेश बनाए रखें। ग्रेड वाले स्कूल में एक ही टीचर के अधीन बहुत से बच्चे होते हैं। वहां 'व्यवस्था बनाए रखने' के लिए कतिपय बाहरी तरीके इस्तेमाल किए जाते हैं। इनका अनुकरण करना नितांत मूर्खता होगी। हमारे स्कूल की बदली परिस्थितियों में, जहां बच्चों के छोटे-छोटे ग्रुप हैं जिनको टीचर का नितांत निजी व व्यक्तिगत परिचय मिलता है, जहां काम में बहुत अधिक विविधता है, जिनका अलग-अलग बच्चे की आवश्यकता के अनुरूप अलग-अलग रूपांतरित किया जाता है, इसकी जरूरत नहीं। अगर हमने अपने बच्चों को आवश्यकता से अधिक स्वतंत्रता दी है, तो यह वास्तविक अनुशासन में कमी करने के लिए नहीं है। बल्कि हमारी विशेष स्थितियों में बच्चे से कम कृत्रिम जिम्मेदारियों की अपेक्षा रखी जाती है। वहां इनके मन और शरीर का अधिक संतुलित व संपूर्ण विकास होता है। मुझे विश्वास है कि जिन माता-पिता ने अपने बच्चों को हमें किसी भी अवधि के लिए सौंपा है, वे यह कहने में सहमत होंगे कि एक तो बच्चे स्कूल आना पसंद करते हैं, फिर भी मनोरंजन नहीं, काम ही स्कूल की भावना और शिक्षा है। यह स्वतंत्रता बच्चों को ऐसी बौद्धक व सहानुभूति की निगरानी वाली स्थितियों में दी जाती है जो उनके चरित्र के विकास व सशक्तीकरण का साधन बनती है।

तीन वर्षों के अंत में हमें यह कहने में संकोच नहीं कि

अपने कुछ मूल प्रश्नों के हमने सकारात्मक उत्तर पा लिए हैं। फीस के करीब दोगुनी हो जाने के बावजूद बच्चों की संख्या का पंद्रह से बढ़कर लगभग सौ हो जाना इस बात का द्योतक है कि अभिभावक व्यक्तिगत विकास को अपना नियंत्रक उद्देश्य बनाने वाली शिक्षा को स्वीकार करने को तैयार हैं। निर्देशकों की एक संगठित टीम इसकी द्योतक है कि भली भांति प्रशिक्षित शिक्षक उच्च शिक्षा के लिए निर्धारित प्रशिक्षण व ज्ञान के साधनों को प्राथमिक शिक्षा के लिए इस्तेमाल करने को तैयार हैं। स्कूल के प्रतिदिन के काम से यह लक्षित होता है कि बच्चे उसी तरह स्कूल में रह सकते हैं जैसे कि वे बाहर रहते हैं। फिर भी वे ज्ञान, दयालुता व आज्ञाकारिता की भावना में निरंतर वृद्धि कर सकते हैं। छोटे बच्चों के लिए भी शिक्षण सत्य के साथ होता है जो आत्मा को पुष्ट करता है। इसके साथ ही ज्ञान के विभिन्न अंगों का वे साक्षात्कार करते हैं और उनको आत्मसात करते हैं। उनका विकास वास्तविक व संपूर्ण होता है, फिर भी आनंद के साथ।

नोट्स

1. जान डेवी की विश्वविद्यालय प्राथमिक स्कूल के अभिभावकों के संघ की फरवरी 1899 में हुई एक मीटिंग की स्टेनोग्राफी रिपोर्ट। कुछ संशोधन के साथ।
2. प्राथमिक स्कूल के रिकार्ड में इस साल का कार्यक्रम प्रकाशित किया गया है। विवरण यूनिवर्सिटी आफ शिकागो प्रेस से।

5

प्राथमिक शिक्षा का मनोविज्ञान

स्वभावतः अधिकांश लोग यह जानना चाहते हैं कि स्कूल में रोज बच्चों के साथ सीधे संबंध में क्या होता रहता है। यह माता-पिता के लिए उचित ही है जो अपने बेटे या बेटियों को वांछित व्यक्तिगत उपलब्धियों के लिए भेजते हैं न कि किसी शिक्षा सिद्धांत में सहयोग देने के लिए। स्कूल में आने वाले लोग अपनी आंखों से देखते हैं कि हम बच्चों से किस तरह पेश आते हैं और यहां क्या करते हैं। लेकिन उसमें निहित समस्याओं को समझने में न उनकी दिलचस्पी होती है और न ही उनके पास इसके लिए समय होता है। स्कूल अपने इस काम की भी अनदेखी नहीं कर सकता। क्योंकि इस तरफ ध्यान देने से ही स्कूल अपने बच्चों को बनाए रख सकता है और अभिभावकों का विश्वास पा सकता है।

विश्वविद्यालय के किसी विभाग द्वारा चलाए जाने वाले स्कूल का एक और पहलू होना भी अनिवार्य है। विश्वविद्यालय के दृष्टिकोण से सबसे महत्वपूर्ण काम वैज्ञानिक है। वह योगदान है जो यह शैक्षणिक विचारधारा के विकास के लिए देगा। एक निश्चित संख्या के बच्चों को पढ़ाने का विश्वविद्यालय का लक्ष्य पर्याप्त नहीं हो सकता, जिसके लिए वह अपने परंपरागत पथ से विलग हो। वह पथ जो उसे उन तक सीमित करता है जिन्होंने

उच्चतर शिक्षा प्राप्त कर ली है। केवल वैज्ञानिक लक्ष्य, अन्य प्रयोगशालाओं सरीखी एक प्रयोगशाला चलाना ही किसी विश्वविद्यालय द्वारा प्राथमिक स्कूल चलाने का औचित्य सिद्ध कर सकती है। इस तरह का कोई स्कूल व्यावहारिक मनोविज्ञान की प्रयोगशाला होता है। यानी यह बच्चे के विकसित होते मस्तिष्क का अध्ययन है। साथ ही ऐसी सामग्री और ऐजेंसियों की खोज है जो सामान्य विकास की स्थितियों के लिए उपादेय हों।

यह कोई सामान्य स्कूल या शिक्षकों के प्रशिक्षण का विभाग नहीं। यह कोई माडल स्कूल भी नहीं। यह कोई विचार या सिद्धांत विशेष को प्रदर्शित करने के लिए भी नहीं। इसका उद्देश्य बच्चे की शिक्षा को मानसिक क्रियाशीलता और आधुनिक मनोविज्ञान की जानकारी के अनुरूप वृद्धि के विकास के आलोक में देखने की समस्या है। यह समस्या अपने आप में अपरिमित है। कोई भी स्कूल में थोड़ा योगदान ही दे सकता है। वह इस आलोक में शिक्षा को देखने की आवश्यकता पर बल दे सकता है। इस उद्देश्य को पूरा करने के लिए स्कूल को इन परिस्थितियों से सहमत होना होगा। वर्तमान कृत्रिम परिस्थितियों में विकास की प्रक्रिया और नियमों का अध्ययन करने की आकांक्षा रखना हास्यास्पद ही होगा।

अपने व्यावहारिक पहलू में प्रयोगशाला की समस्या ऐसे पाठ्यक्रम का निर्माण करना है जो बच्चे के अनुभवों व क्षमता के प्राकृतिक इतिहास के साथ सामंजस्य बना सके। सवाल ऐसे विविध विषयों व उनके उचित अनुपात का निर्धारण करने का है जो विकास की अवधियों की प्रभावी आवश्यकताओं के अनुरूप हो। ऐसे प्रदर्शनीय माडलों का है जो चयनित सामग्री के वृद्धि में योगदान को दर्शाते हों। हम अपने ज्ञान की सीमा को पूरी तरह स्वीकार नहीं कर सकते। न ही इस संबंध में अपनी अज्ञानता की गहराई को स्वीकार कर सकते हैं। किसी बच्चे के एक साल के

जीवन के मुख्य मनोवैज्ञानिक कारकों पर पूरे वैज्ञानिक नियंत्रण का दावा कोई नहीं कर सकता। यह कहना कि वांछित विकास के लिए सर्वश्रेष्ठ सामग्री का चयन कर लिया गया है, केवल एक अनुमान ही होगा। इस तरह की एक प्रयोगशाला तो विकास की स्थितियों के बौद्धिक परीक्षण को संभव बनाने भर के लिए है। यह इसलिए है कि और अधिक जाना जा सके। इस तरह के प्रयोग का मुख्य मुद्दा हमारी उचित धारणा में आगे योगदान देना है। जरूरत है शोध की स्वतंत्रता को प्रोत्साहन देने की। इससे हम आश्वस्त होंगे कि महत्वपूर्ण तथ्य नजरअंदाज नहीं हो रहे हैं। इससे ऐसी स्थितियां बनेंगी जिनमें इस शोध से सामने आई शैक्षणिक पद्धति पर निष्ठापूर्वक अमल किया जा सकेगा। उसमें परंपरागत अवधारणाओं व पूर्वग्रहों पर निर्भरता के कारण विकार नहीं आएगा। इन्हीं अर्थों में स्कूल शिक्षा की प्रयोगस्थली बनेगा।

तो फिर मनोविज्ञान के अनुसार काम करने के लिए किस मुख्य परिकल्पना को आधार बनाया गया है? इस अपनाए गए मनोविज्ञान के लिए शिक्षा के किन प्रतिपक्षों को लिया गया है? इन सवालों पर चर्चा वर्तमान और पिछले दिनों के मनोविज्ञान में वैषम्य के संदर्भ में की जा सकती है। यह वैषम्य विशेष प्रकार का है। दोनों मनोविज्ञान यह मानते हैं कि मस्तिष्क नितांत वैयक्तिक होता है। उसका बाहरी संसार से सीधा व अनावृत्त संपर्क होता है। अब केवल एक सवाल पूछने वाला रह जाता है कि किसी तरह मस्तिष्क व संसार एक दूसरे के साथ प्रतिक्रिया करते हैं? अगर इस विश्व में केवल एक ही मस्तिष्क होता तो उसकी प्रक्रिया सैद्धांतिक ही रह जाती। अब तक की प्रवृत्ति यह है कि एकल मस्तिष्क सामाजिक जीवन से प्रतिक्रिया करता है। उसमें अपने आप विकसित होने या क्रिया करने की क्षमता नहीं होती। उसे निरंतर सामाजिक माध्यमों की उत्प्रेरणा की आवश्यकता होती है। सामाजिक आपूर्ति से उसका पोषण होता है। वंशानुगतता के

विचार ने यह धारणा दी है कि किसी व्यक्ति के शारीरिक व मानसिक उपकरण अपनी नस्ल से उसे मिलते हैं। यह पूंजी उसे अतीत से विरासत में मिलती है जिसे वह भविष्य के लिए संजोकर रखता है। विकास की धारणा ने इस विश्वास को बल दिया है कि मस्तिष्क को वैयक्तिक, एकाधिकृत नहीं माना जा सकता। यह मानवता की विचारणा व कार्यकलाप का प्रतिनिधित्व करता है। इसका विकास ऐसे परिवेश में होता है जो भौतिक भी है, सामाजिक भी। उसको स्वरूप देने में सामाजिक आवश्यकताएं व लक्ष्य बहुत महत्व रखते हैं। आदिमता व सभ्यता में मुख्य अंतर उस अनावृत्त प्रकृति का नहीं जिसका सामना हरेक से होता है। यह अंतर सामाजिक विरासत व सामाजिक माध्यम का है।

बचपन पर किए गए अध्ययन ने यह नितांत स्पष्ट कर दिया है कि यह सामाजिक विरासत किसी व्यक्ति में केवल वर्तमान सामाजिक उद्दीपकों के साथ ही काम करती है। प्रकृति को अपने प्रकाश, ध्वनि, ताप आदि उद्दीपक अवश्य प्रदान करने चाहिए। लेकिन इनका महत्व इस पर निर्भर करता है कि बच्चा जिस समाज में पल रहा है, वह उनके संदर्भ में किस तरह कार्य करता है और कैसी प्रतिक्रिया करता है। केवल प्रकाश का उद्दीपन संपूर्ण वास्तविकता नहीं। तद्विषयक सामाजिक कार्यकलाप व विचारणा इसके अर्थों को समृद्ध करते हैं। बच्चा अनुकरण, सुझाव, प्रत्यक्ष निर्देश तथा परोक्ष अवचेतन ज्ञानार्जन से ही इस अनावृत्त भौतिक उद्दीपक को आंकना सीखता है। सामाजिक माध्यमों के द्वारा ही वह कुछ ही वर्षों में उस विकास को आत्मसात कर लेता है जिस तक पहुंचने में हमारी नस्ल को कई शताब्दियां लग गई थीं।

शिक्षा पद्धति वर्तमान मनोविज्ञान के साथ अवचेतन रूप से तालमेल बैठा कर चलती रही है। दोनों की उपज एक ही मिट्टी से है।

जैसे कि माना गया था कि मस्तिष्क को अनुभूतियां बाहरी दुनिया से सीधे संपर्क से मिलती हैं, उसी तरह सोचा गया कि बच्चे के मस्तिष्क को बाहरी तथ्यों के संपर्क में लाने से शिक्षा संबंधी सभी आवश्यकताएं पूरी हो सकती हैं। इन तथ्यों को भूगोल, अंकगणित, व्याकरण आदि लेबल लगाए गए। इस बात को नजरअंदाज कर दिया गया कि ये सभी तथ्य अतीत के सामाजिक जीवन से लिए गए हैं। ये सामाजिक स्थितियों की उपज हैं। ये सामाजिक आवश्यकताओं के जवाब का प्रतिनिधित्व करते हैं। विषय-सामग्री में कभी कोई सामाजिक तत्व नहीं पाया गया। न ही बच्चे को होने वाले अंतर्निहित आकर्षण में। यह पूरी तरह बाहरी था, टीचर में। यह टीचर के उत्साहवर्द्धन, समझाने, प्रेरित करने व शिक्षक के उन उपकरणों में था जिनके जरीए बच्चे के मस्तिष्क को उस सामग्री पर काम करने के लिए लगाया जाता था जिसे आकस्मिक तौर पर सामाजिक चमक पैदा की गई हो। इस बात को भुला दिया गया कि बच्चे के जीवन को पूरी तरह तभी सार्थक बनाया जा सकता है जब किसी बाहरी अध्ययन के तौर पर नहीं, बल्कि सामाजिक जीवन के संदर्भ में पढ़ाई कराई जाए। यह भुला दिया गया कि इसे बच्चे के व्यवहार व स्वभाव का अभिन्न भाग होना चाहिए। वह उनको बाहरी जानकारी के तौर पर नहीं बल्कि वर्तमान आवश्यकताओं व लक्ष्यों के जैविक भाग के रूप में स्वीकार करे, जो कि अंततः सामाजिक होते हैं।

दूसरी बात यह कि पुराना मनोविज्ञान ज्ञान या बौद्धिकता का मनोविज्ञान था। उसमें मनोभावों व प्रयासों का स्थान आकस्मिक था। संवेदनाओं के बारे में बहुत कुछ कहा जाता था। लेकिन कार्यकलाप के बारे में लगभग कुछ नहीं। विचारों के बारे में चर्चा होती थी। वे संवेदनाओं से उपजते हैं या फिर किसी आंतरिक मानसिक क्षमता से। लेकिन किसी क्रिया की आवश्यकता

से वे उपज सकते हैं इस तथ्य की अवहेलना की गई। व्यवहार या आचार पर उनके प्रभाव को बाहरी माना गया। लेकिन अब हम (श्री जेम्स के शब्दों में), बौद्धिकता जो विचारों व संवेदनाओं का क्षेत्र है, "केवल मध्य विभाग है। जिसे कई बार अंतिम मान लिया जाता है। हम बोध की विशद विभिन्नता एवं जटिलताओं में यह देखने में असफल रहते हैं कि इसका केवल एक ही काम होता है–हमारे तुरत या बाद के कार्यकलाप की दिशा को परिभाषित करना।"

इसमें भी शिक्षा पद्धति और मनोविज्ञान के सिद्धांतों के बीच निश्चित तालमेल था। स्कूल में ज्ञान पृथक था। वह अपने आप में एक लक्ष्य था। तथ्य, नियम, सूचनाएं पाठ्यक्रम के मूल तत्व थे। शिक्षा सिद्धांत में विवाद दो वर्गों के बीच था। वे जो ज्ञान में संवेदन तत्व पर अधिक विश्वास रखते थे और वे जो अमूर्त विचारों को अधिक महत्व देते थे। ये कथित कारण थे। लेकिन वास्तविकता यह थीं कि शिक्षा का आधार दूसरे लोगों के पुस्तकों में संकलित विचार ही होते थे। इन दोनों मामलों में क्या कभी चेतना को प्रशिक्षत करने का प्रयास किया गया? क्या कभी समस्या विषयक तार्किक कार्यकलाप किया गया? कभी व्यावहारिक जीवन के प्रति रुचि पर कार्य किया गया? अगर हम मानें कि हमारे मनोविज्ञान के सिद्धांत जीवन के किन्हीं सत्यों का प्रतिपादन करते हैं तो शिक्षा में परिवर्तन आएगा।

विषमता का तीसरा बिंदु, मस्तिष्क के प्रति आधुनिक अवधारणा है कि मस्तिष्क कोई स्थिर वस्तु नहीं। यह विकास की एक प्रक्रिया है। पुरानी मान्यता के अनुसार दिमाग, दिमाग होता था बस। वह सदा एक सा होता था। वह अपनी क्षमताओं के साथ बच्चे या वयस्क की खोपड़ी में फिट होता था। इसमें अगर कोई अंतर होता था तो यह कि कुछ लोगों में कतिपय क्षमताएं कुछ पहले आ जाती थीं, जैसे कि स्मरण शक्ति। निर्णय लेना या

निष्कर्ष निकालने जैसी क्षमताएं बाद में आती थीं जब बच्चा स्मरण के जरीए दूसरों के विचारों पर पूरी तरह निर्भर हो जाता था। केवल एक ही महत्वपूर्ण अंतर को मान्यता मिलती थी, मात्रा की गुणवत्ता। बच्चा छोटा आदमी था, उसका मस्तिष्क छोटा था। आकार के सिवा उसमें बाकी सब कुछ वयस्क जैसा ही था। उसमें पहले से तैयार स्मरण, सतर्कता आदि क्षमताएं थीं। अब हमारी मान्यता है कि मस्तिष्क विकासशील है। उसमें परिवर्तन होते रहते हैं। विभिन्न अवधियों में उसमें विभिन्न क्षमताएं और रुचियां होती हैं। जीवन की निरंतरता की दृष्टि से सब में समान रूप से ऐसा होता है। लेकिन प्रत्येक व्यक्ति की अपनी मांग व कर्तव्य के अनुसार उसमें भिन्नता होती है। "पहले पात, फिर बाली, फिर बाली में अनाज के भरपूर दाने।"

इस स्थिति में शिक्षा और मनोविज्ञान की संगति के विषय में बढ़ा-चढ़ा कर कुछ कहना संभव नहीं है। शिक्षा की पद्धति अवचेतनता से ही सही, पूरी तरह से इस अनुमान से नियंत्रित थी कि चूंकि मस्तिष्क और उसकी क्षमताएं सदा एक सी होती हैं, अतः वयस्क की विषय-सामग्री, जो तर्कपूर्ण तरीके से तथ्यों व नियमों में व्यवस्थित की गई हो, वही बच्चे के लिए भी स्वाभाविक अध्ययन सामग्री है। अलबत्ता इसे उसके लिए सहज सरल बनाया जाता था। इसका परिणाम परंपरागत शिक्षा होता था जिसमें बच्चे और वयस्क के मस्तिष्क को समान माना जाता था। फर्क सिर्फ यह कि बच्चे का मस्तिष्क क्षमता के परिमाण में कम होता था। विश्व की संपूर्ण श्रेणी का पहले विषयों में उपविभाजन किया जाता है जिसे अध्ययन कहते हैं। उसके बाद उनको फिर आगे टुकड़ों में बांटा जाता है। इनको पाठ्यक्रम के निश्चित वर्षों में रखा जाता है। विकास के किसी क्रम को नहीं माना गया। यही काफी था कि आरंभ के भाग बाद वाले से सरल हों। इस तरह के पाठ्यक्रम की अनर्गलता पर डब्लू.एस. जैक्सन की टिप्पणी

द्रष्टव्य है, ''भूगोल के अध्यापकों को लगता होगा कि विधाता उन पर प्रसन्न होगा तभी उसने केवल चार या पांच महाद्वीप ही बनाए। इससे पढ़ाई शुरू करवाना कितना आसान है। हर कक्षा को एक महाद्वीप कोर्स में देना कितना स्वाभाविक है। इस तरह आठ सालों में सब पूरा हो जाता है।''

अगर हम मस्तिष्क के निरंतर विकास के बारे में गंभीर हैं जो अपने विकास के विभिन्न चरणों के विलक्षण विशेषताएं रखता है तो यह शिक्षण के रूपांतरण के प्रति भी इंगित करता है। यह स्पष्ट है कि किसी निश्चित अवधि में अध्ययन सामग्री तत्कालीन सक्रियता की स्थिति के अनुरूप होनी चाहिए न कि ज्ञान के उपलब्ध भंडार के टुकड़े करके उसे पाठ्य सामग्री के रूप में पेश किया जाए।

स्कूल की वर्तमान स्थितियों की आलोचना करना सरल है। कुछ भिन्न होने की आवश्यकता बताना भी सरल है। लेकिन कठिनाई इस धारणा को अमली जामा पहनाने में है। यह देखने में है कि कौन सी सामग्री और शिक्षा पद्धति किस अनुपात और क्रम में किसी नियत समय में उपलब्ध व सहायक हो सकती है। यहां फिर हम प्रयोगशाला की धारणा पर लौटते हैं। इन सवालों के अग्रिम उत्तर उपलब्ध नहीं हैं। परंपरा इनका जवाब नहीं देती। क्योंकि वह नितांत भिन्न मनोविज्ञान पर आधारित है। केवल तर्क भी इसका जवाब नहीं दे सकता। क्योंकि मामला तथ्यों का है। केवल प्रयास करने से इन बातों का पता लगाया जा सकता है। प्रयास करने से इनकार करके, आंखें मूंद कर परंपरा से चिपटे रहने से उस एकमात्र कदम को नकारना होगा जिसके माध्यम से शिक्षा में विवेकसम्मत धारणा बनाई जा सकती है।

पिछले पांच सालों में जो खोज की गई उससे जो विभिन्न दिशाएं मिलीं उन पर निम्न कथन प्रकाश डालता है। यह हाल के कुछ उपलब्ध परिणामों की तरफ भी इंगित करता है। इन परिणामों

के बारे में अनंतिम होने के अतिरिक्त और कोई दावा नहीं किया जा सकता। इनसे और भी निश्चित जागरूकता आती है कि आखिर समस्याएं क्या हैं। इनसे भविष्य में और प्रयास करने का मार्ग प्रशस्त होता है। यह निश्चय ही प्रगति है। यहां यह भी बता देना जरूरी है कि कई मामलों में कई श्रेष्ठतम विचारों को कार्यान्वित करना संभव नहीं हो पाया। क्योकि इसके लिए आवश्यक फंड का अभाव था। इसके कार्यान्वयन में प्रशासनिक कठिनाइयां थीं। समुचित भवन व उपकरण उपलब्ध नहीं हो पाए थे। इसके लिए वांछित शिक्षकों का पर्याप्त समय हम नहीं ले पाए। स्कूल की संख्या बढ़ने से, बच्चों के बड़े व परिपक्व होने से, यह प्रश्न गंभीर होता जा रहा है कि कब तक और पर्याप्त सुविधाओं के बिना प्रयोग जारी रखना उचित होगा?

मनोवैज्ञानिक परिकल्पना के संदर्भ में जो शिक्षा संबंधी जवाब खोजे गए हैं, विकास के विभिन्न चरणों के साथ उनके बारे में कुछ कहना सुविधाजनक होगा। प्रथम चरण (बच्चे की चार से आठ साल तक की उम्र का समय) में बच्चा सीधे सामाजिक व वैयक्तिक रुचियों में संलग्न होता है। वह विचारों, क्रियाओं व प्रभावों से सीधा संबंध जोड़ता है। उसकी अभिव्यक्ति की मांग तात्कालिक होती है। इसलिए इस वर्षों के लिए पठन सामग्री का चयन बच्चे के इन सालों के सामाजिक परिवेश से किया गया है। कहानियों, चित्रों, खेल, पेशेगत कार्यों अथवा छोटे औद्योगिक कामों एवं बातचीत में बच्चा यथासंभव उनके पुनःसृजन का प्रयास करता है। पहले तो सामग्री ऐसी होती है जो बच्चे के निकटस्थ पाई जाती हो। पारिवारिक जीवन व पास पड़ोसे से। उसके बाद वह जरा दूर चली जाती है। सामाजिक परिवेश (जो शहर और गांव के जीवन की परस्पर निर्भरता से वास्ता रखते हों), और उसके बाद उसका विस्तार विशिष्ट पेशों के ऐतिहासिक विकास व उनसे संबद्ध सामाजिक स्वरूपों तक हो जाता है। इस

सामग्री को पढ़ने वाले पाठ के तौर पर पेश नहीं किया जाता। बल्कि वह कुछ ऐसा होता है जो बच्चे के अपने अनुभव से निसृत हो। उसकी अपनी गतिविधियों– बुनकारी, खाना पकाना, कार्यशाला का काम, माडलिंग, नाटक, बातचीत, चर्चा, कहानी सुनाना आदि के जरीए हो। ये सीधे माध्यम हैं। ये अभिव्यक्ति के योग्य क्रियाओं के विभिन्न रूप हैं। उन पर इस तरह बल दिया जाता है कि वे स्कूल के कार्यक्रम का महत्वपूर्ण हिस्सा बनें ताकि बच्चे की उम्र की उस अवधि में उसकी विशिष्टताओं से निकटस्थ संबंध बने रहें। लक्ष्य बच्चे को ऐसे स्कूल में ले जाना नहीं है जो एक अलग ही जगह होती है। बल्कि ऐसी जगह ले जाना है जहां वह स्कूल के बाहर के अपने अनुभवों का पुन:ग्रहण करता है। वह उनका विस्तर करता है। उनको और समृद्ध बनाता है।

दूसरा चरण आठ या नौ वर्षों से ग्यारह या बारह वर्षों तक होता है। इसका उद्देश्य अधिक स्थायी व वास्तविक परिणामों की संभावना के लिए बढ़ती चेतना के साथ जो परिवर्तन आते हैं उन्हें पहचानना व उनके साथ प्रतिक्रिया करना है। संबंधित माध्यमों को नियंत्रित करने की आवश्यकता होती है, ताकि इन परिणामों तक पहुंचने की कुशलता प्राप्त की जा सके। जब बच्चा स्पष्ट व स्थायी लक्ष्यों को पहचान लेता है जो कि स्पष्टत: उसके सम्मुख आकर उसका ध्यान आकर्षित करते हैं तो पहले की अस्पष्ट जीवन की एकात्मता टूटती है। केवल खेलकूद की गतिविधि से अब वह संतुष्ट नहीं होता। इससे कुछ उपलब्धि होना आवश्यक हो जाता है। इसे किसी निश्चित परिणाम तक पहुंचाने वाली होना चाहिए। इससे कार्यकलाप के नियमों को मान्यता देना आता है। यानी ऐसे नियमित साधन जो स्थायी परिणाम देने के लिए उपयुक्त हों। उनको उन प्रक्रियाओं का महत्व पता चलता है जिनसे काम करने की कुशलता आती है।

इसलिए शिक्षा में विषय सामग्री में समस्या अनुभवों की अस्पष्ट एकात्मता से अलग अनुभवों की विलक्षणता को चरणबद्ध करने की है। ऐसा चयन करने की है जो मानव के लिए उच्चतर परिणाम देने वाले माध्यमों को नियंत्रित करने एवं विचार व कार्यकलाप की दृष्टि से महत्व रखते हों। पद्धति की समस्या भी तदनुरूप ही है। यह है बच्चे को उसके अंदर ऐसे विकास को पहचानने के लिए तैयार करने की है। उसको इस आवश्यकता का भान कराने की है कि इन काम करने के व्यावहारिक व बौद्धिक तरीकों की आवश्यकता है। उसे इसका भान कराने की है कि वह अपने लिए परिणामों का खुद आकलन कर सके और तद्विषयक पूछताछ कर सके।

अधिक प्रत्यक्ष सामाजिक पक्ष के लिए अमेरिकन इतिहास (विशेषतः उपनिवेशवाद का समय) को लिया गया। क्योंकि यह धैर्य, साहस, प्रवीणता और अत्यंत कठिन स्थितियों व बाधाओं में भी परिणामों के लिए साधनों के इस्तेमाल के विलक्षण उदाहरण प्रस्तुत करता है। यह सामग्री निश्चित, विविध व मानवीय है। यह बच्चे की प्रतिनिधित्वात्मक व सर्जनात्मक कल्पना में सीधे आ जाती है। इस तरह ये उसकी अपनी चेतना का एक अंग बन जाती है। इसका उद्देश्य उस काल का पूरा ब्योरा बताना नहीं है। उसका उद्देश्य तो सामाजिक परिणाम पाने के लिए इस्तेमाल की गई सामाजिक प्रक्रिया की जानकारी देना है। इसलिए सारे इतिहास को कालक्रमानुसार प्रस्तुत करने की कोई कोशिश नहीं की गई। बल्कि इसके लिए कुछ विशेष किस्मों की सीरीज को लिया गया। इसके लिए शिकागो, मिसिसिपी घाटी के उत्तरी-पश्चिमी भाग, वर्जीनिया, न्यूयार्क और न्यू इंगलैंड के प्यूरिटनवादियों व पिल्ग्रिम्स को लिया गया। इसका उद्देश्य विभिन्न स्थानीय व मौसम की स्थितियों को पेश करना था। विभिन्न प्रकार की बाधाओं को और लोगों ने उनका समाधान कैसे खोजा, इसे पेश

करना था। विभिन्न लोगों के अलग-अलग लक्ष्यों व विभिन्न ऐतिहासिक परंपराओं व रीतिरिवाजों को पेश करना था।

इस पद्धति में विस्तृत ब्योरा दिया गया है। परिवेश, औजारों, पहनावे, घरेलू बर्तनों, खाने, दैनिक रहन-सहन, आदि का विस्तृत ब्योरा। ताकि बच्चा इस सामग्री का पुनःसृजन जीवन के रूप में कर सके न कि केवल ऐतिहासिक जानकारी के रूप में। इस तरह सामाजिक प्रक्रियाएं व परिणाम वास्तविकता बन जाते हैं। इससे बच्चे की पढ़ी गई पूर्व अवधि के सामाजिक जीवन से नाटकीय व व्यक्तिगत एकात्मता स्थापित होती है। बच्चा खुद को सामना करने वाली समस्याओं की स्थिति में रखता है और उनके समाधान के तरीके खोजता है।

लक्ष्य के लिए साधनों का यह दृष्टिकोण विज्ञान के कार्य को भी नियंत्रित करता है। सुविधा के लिए अब इसे दो पक्षों में बांटा जा सकता है—भौगोलिक व प्रयोगात्मक। जैसा कि अभी-अभी हमने कहा, इतिहास का काम प्राकृतिक परिवेश को साधनों के प्रदाता व तात्कालिक समस्याएं प्रस्तुत करने वाले के तौर पर समझने का है। प्रत्येक कालोनी के भूआकृति-विज्ञान—पहाड़ों, नदियों, मैदानों, यात्रा व विनिमय के प्राकृतिक रास्तों, पशुपक्षी व पेड़पौधों के ब्योरे पर पर्याप्त ध्यान दिया गया है। इसके साथ स्थानों का भ्रमण भी जोड़ा गया ताकि बच्चा स्वयं देख कर यथासंभव आवश्यक ब्योरा एकत्र कर ले जिससे वह दूरस्थ परिवेश का अपनी कल्पना में पुनःसृजन कर सके।

प्रयोगात्मक पक्ष में उन प्रक्रियाओं का अध्ययन रखा गया है जो मानव के लिए महत्वपूर्ण विशिष्ट परिणाम देती हैं। आरंभ में बच्चे का कार्यकलाप खोज करने का न होकर सीधे सृजन का है। उसके प्रयोग सक्रिय कार्य होते हैं, लगभग खेलकूद जैसे। बाद में वह पता लगाता है कि विभिन्न माध्यम या सामग्रियों का विभिन्न परिणामों के लिए कैसे इस्तेमाल किया जाता है। इस

तरह यह वैज्ञानिक प्रयोगों से अलग है। वह दूसरी अवधि के लिए उपयुक्त हैं जब उद्देश्य तथ्यों का पता लगाना और सिद्धांतों की पुष्टि करना होता है। इसमें क्रियात्मकता पर अधिक जोर दिया जाता है पर यह शुद्ध विज्ञान का अध्ययन न होकर प्रयुक्त विज्ञान का अध्ययन है। उदाहरण के लिए ऐसी क्रियाओं को चुना जाता है जो उपनिवेश काल के जीवन में महत्व रखती थीं। जैसे ब्लीच करना, रंगना, साबुन और मोमबत्ती बनाना, जस्ते की तश्तरियां बनाना, सेव का आसव या सिरका बनाना, तेल, वसा आदि के रासायनिक गुणों व प्राथमिक धातुकर्म का अध्ययन आदि। भौतिकी का अध्ययन भी इसी दृष्टिकोण से किया जाता है। इसके लिए स्पिनिंग व्हील व लूम में ऊर्जा के स्थानांतरण का अध्ययन कराया जाता है। ताले, तराजू आदि दैनिक उपयोग के उपकरणों के यांत्रिक सिद्धांतों का अध्ययन कराया जाता है। बाद में विद्युत के उपकरणों, घंटियों, टेलीग्राफ आदि को लिया जाता है।

अन्य कार्यों में भी साधनों के परिणामों से संबंध पर जोर दिया जाता है। कला में परिप्रेक्ष्य, मात्रा व स्थान के अनुपात, संतुलन, रंगों के मेल या विभिन्नता के प्रभाव से संबंधित व्यावहारिक प्रश्नों पर बल दिया जाता है। खाना बनाने में खाद्य पदार्थों की संरचना और विभिन्न माध्यमों के इन पर प्रभाव आदि को लिया जाता है ताकि बच्चे जहां तक हो सके इससे अपने नियम निकाल सकें। सिलाई में काटने के तरीके, फिटिंग (गुड़ियों के कपड़े) आदि के बारे में सिखाया जाता है। बाद में सिलाई के तकनीकी पहलू को लेते हैं।

यह स्पष्ट है कि काम व रुचियों में बढ़ती विविधता के कारण विभिन्न अध्ययनों में अधिक व्यक्तिपरकता एवं स्वाधीनता आ रही है। एक ओर अनावश्यक पृथकीकरण में और दूसरी ओर बहुसंख्य विषयों पर ध्यान देने के बीच संतुलन का पता लगाने पर बहुत ध्यान देना चाहिए। इनमें से किसी को भी बहुत अधिक

बल या महत्व नहीं देना चाहिए। पहला सिद्धांत काम को मशीनी और औपचारिक बनाता है। उसे बच्चे के जीवन के अनुभवों व आचार के प्रभावी असर से अलग करता है। दूसरा इसे असम्बद्ध और अस्पष्ट बनाता है। वह बच्चे को उसकी अपनी क्षमता के निर्देशों व उद्देश्य की स्पष्टता से विहीन कर देता है। संभवतः इसी साल में साधनों के परिणामों से संबंध की स्पष्ट जागरूकता आई है। हम आशा करते हैं कि बच्चे के विकास पर इस सिद्धांत पर बल देने से निश्चयात्मक व संचित प्रभाव पड़ेगा।

अनुभवों को विस्तार देने व नियंत्रित करने के सबसे महत्वपूर्ण माध्यमों या साधनों के बारे में अभी तक कुछ नहीं कहा गया है। ये हैं, सामाजिक व पारंपरिक प्रतीकों पर नियंत्रण। मात्रा सहित भाषा के प्रतीकों के बारे में। इनका महत्व इतना अधिक है कि पारंपरिक या 'तीन आर' वाला पाठ्यक्रम उन पर आधारित है। प्राथमिक स्कूल के पहले चार या पांच वर्षों का 60 से 70 प्रतिशत तक समय इनको दिया जाता है। कम वाली संख्या चुनिंदा स्कूलों के बारे में है, न कि औसत स्कूलों के बारे में।

ये विषय दो मायनों में सामाजिक हैं। अपनी बौद्धिक खोज के दौरान समाज ने अतीत में जिन उपकरणों का विकास किया, ये उनका प्रतिनिधित्व करते हैं। ये उस कुंजी का प्रतीक हैं जो बच्चे के लिए उस सामाजिक संपदा के द्वार खोलती है जो उसके निजी सीमित अनुभवों के दायरे से बाहर है। इन दो दृष्टिकोणों से इन कलाओं को शिक्षा में अति महत्व का स्थान दिया जाना चाहिए। लेकिन इनसे परिचित कराते समय कुछ बातों को ध्यान में रखना आवश्यक है। इन अध्ययनों को बड़े पैमाने पर लागू करते समय इन स्थितियों पर ध्यान नहीं दिया जाता। 'तीन आर' से संबंधित मुख्य समस्या यह है कि इन स्थितियों पर ध्यान नहीं दिया गया और उन पर काम नहीं किया गया।

इन स्थितियों को दो भागों में विभाजित किया जा सकता है :

(1) इस बात की आवश्यकता है कि बच्चे के अपने निजी अनुभवों में इन सामाजिक या भौतिक वास्तविकताओं संबंधी पृष्ठभूमि होनी चाहिए। इसका होना जरूरी है ताकि प्रतीक अप्रत्यक्ष व वास्तविकता का परंपरागत विकल्प न बन जाए। (2) इस बात की आवश्यकता है कि बच्चे के अधिक साधारण, प्रत्यक्ष व निजी अनुभव उसे समस्याएं, उद्देश्य व दिलचस्पी दें ताकि उसे पुस्तक को समाधान, खोज व संतुष्टि के लिए साधन-स्रोत बनाना आवश्यक हो जाए। वर्ना बच्चा किसी बौद्धिक क्षुधा, जागरूकता, जिज्ञासा की प्रवृत्ति के बिना पुस्तक को पढ़ता है। इसका परिणाम पुस्तकों पर दयनीय निर्भरता के रूप में सामने आता है। इससे विचार या जिज्ञासा की ऊर्जा क्षीण होती है। पढ़ाई केवल काल्पनिकता, भावुक आसक्ति व वास्तविक संसार से काल्पनिक संसार में पलायन के रूप में सामने आता है।

अतः हमारे सामने समस्या यह है कि (1) बच्चे को पेशे, अभिव्यक्ति, बातचीत, निर्माण, प्रयोग संबंधी गतिविधियां पर्याप्त मात्रा में मिलें ताकि पुस्तकों में दिए दूसरों के अनुपातहीन अनुभवों से उसकी नैतिक व बौद्धिक वैयक्तिकता क्षीण न हो। (2) बच्चे को प्रत्यक्ष अनुभव कराया जाए ताकि वह इन परंपरागत सामाजिक उपकरणों के प्रयोग की महारत हासिल करने की आवश्यकता अनुभव करे। इनसे उसे उद्देश्य मिले। उनका उपयोग उसे बौद्धिकतापूर्ण लगे, निर्भरता के स्थान पर उसकी क्षमताओं में इसका योग हो। इस समस्या का समाधान हो जाने पर भाषा, साहित्य या अंकों पर काम करना किसी यांत्रिक प्रक्रिया, औपचारिक विश्लेषण जैसा न रहेगा। इस बात की जरा भी आशंका न रहेगी कि पुस्तकों व उनसे संबंधित जो कुछ है, वह अपने वांछित महत्व के स्थान को न पा सकेंगी।

कहने की आवश्यकता नहीं कि समस्या को अभी तक सुलझाया नहीं जा सका है। शिकायत आम है कि परंपरागत स्कूलों में

पाठ्यक्रम में आए नए विषयों के कारण बच्चों के विकास में बाधा आती है। यह इस बात का प्रमाण है कि अभी उचित संतुलन नहीं बन सका है। स्कूल में अब तक के अनुभव से निम्न परिणामों के संकेत मिले हैं : (1) क्रियाकलाप के अधिक प्रत्यक्ष तरीके, सृजनात्मक व पेशेगत कार्य, वैज्ञानिक अवीक्षण, प्रयोगात्मकता आदि पढ़ाई, लिखाई (वर्तनी भी) व अंक ज्ञान के लिए पर्याप्त अवसर और मौके देते हैं। लिहाजा इनको पृथक अध्ययन के तौर पर नहीं बल्कि बच्चे के अनुभव के जैविक विकास के तौर पर पेश करना चाहिए। समस्या इन अवसरों का विधिवत व क्रमिक तरीके से लाभ उठाने की है। (2) इस तरह के अध्ययन जो अतिरिक्त अर्थ व ऊर्जा प्रदान करते हैं, वह संभवत: आमतौर पर इनके लिए आवश्यक समय में बहुत बचत करेंगे। (3) लिखने, हिसाब लगाने या संयोजन में प्रतीकों का अंतत: प्रयोग अधिक बौद्धिक व कम यांत्रिक होता है। इसमें अधिक सक्रियता होती है और कम निष्क्रिय ग्रहण। इसमें ऊर्जा का अधिक विकास होता है और मात्र मनोरंजन में कमी।

दूसरी तरफ बढ़ते अनुभवों ने निम्न बातों को स्पष्ट किया है : (1) आरंभिक सालों में ही शिक्षण में प्रतीकों का प्रयोग व पहचान संभव है। इससे बच्चे के उत्पादन व सृजन की क्षमता बढ़ती है। यह अन्य प्रत्यक्ष कार्यों के समान ही प्रभावी है। इसमें निश्चित व सीमित परिणाम निकलने का लाभ भी है जिससे बच्चा अपने विकास का आकलन कर सकता है। (2) इन कार्यों के कुछ चरणों को अनावश्यक रूप से टालने से पर्याप्त असफलता मिली। परिणामत: बच्चा, जो तब तक विकसित बौद्धिक स्तर पर पहुंच गया था, उसे पहले ऊर्जा व सृजन के साधन लगते थे वही अब अरुचिकर प्रतीत होने लगे। (3) इसके लिए स्कूल के कार्यक्रम में उन विषयों को, जिनमें तकनीक की महारत उपलब्ध है, आवंटित समय में वक्त-वक्त पर संकेंद्रण व परिवर्तन की

आवश्यकता है। यानी सारे विषयों को एकसाथ और एक सी रफ्तार से पढ़ाने के बजाय, कुछ को किसी समय अग्रभूमि में और दूसरे विषयों को पृष्ठभूमि में ले जाना चाहिए। उस समय तक जब यह संकेत मिल जाए कि अब बच्चे ने वह कुशलता अर्जित कर ली है कि वह इनको स्वतंत्र रूप से संपादित कर सकता है।

प्राथमिक शिक्षा का यह तीसरा चरण माध्यमिक की सीमारेखा पर है। यह उस समय आता है जब बच्चा वास्तविकता व कार्यकलाप के विभिन्न स्वरूपों की प्रत्यक्ष जानकारी हासिल कर चुका हो। जब उसने विचार के साधनों एवं विभिन्न तरीकों में कुशलता अर्जित कर ली हो। जब वह जिज्ञासा एवं सक्रियता के अनुभवों के विभिन्न चरणों से गुजर चुका हो। जब वह संभवतः तकनीकी एवं बौद्धिक लक्ष्यों के लिए विशेष अध्ययन के योग्य बन गया हो। स्कूल में बहुत से बच्चे इस चरण में हैं, फिर भी स्कूल अभी इतने लंबे समय से नहीं है कि ऐसा कोई निश्चित निष्कर्ष आसानी से निकाला जाए। बहरहाल पिछले पांच वर्षों के अनुभव के आधार पर ऐसी आशा करने के पर्याप्त कारण हैं कि कठिनाइयों, आवश्यकताओं व संसाधनों के प्रति जागरूकता एवं संपूर्णता, मानसिक अनुशासन और शिक्षा के तकनीकी उपकरणों की महारत को क्षति पहुंचाए बिना बच्चों को इस स्तर पर लाया जा सकता है। इसके साथ ही उनमें जीवन के प्रति सार्थक रवैया बनता है और उसके प्रति उनमें व्यापक, अधिक स्वतंत्र व अधिक खुला दृष्टिकोण विकसित होता है।

6

फ्रोएबेल के शिक्षा सिद्धांत

शिकागो विश्वविद्यालय के प्राथमिक स्कूल की एक परंपरा रही है कि वहां कोई विजीटर आता है। शुरू के दिनों में उसे किंडरगार्टेन देखने के लिए बुलाया जाता था। यह बताने पर कि स्कूल में अभी यह स्थापित नहीं हो सका है, वह पूछने लगीं कि क्या स्कूल में गाना, चित्रकला, दस्तकारी का प्रशिक्षण, नाटक व बच्चों के सामाजिक संबंधों पर ध्यान नहीं दिया जाता। जब उनको जवाब हां में मिला तो उन्होंने विजयी मुद्रा में कहा कि इसी को तो मैं किंडरगार्टेन कहती हूं। वह बोली कि मेरी समझ में नहीं आ रहा है कि आप का यह कहने से क्या तात्पर्य था कि स्कूल में किडरगार्टेन नहीं है। यह टिप्पणी अगर भाषा की दृष्टि से नहीं तो भावना की दृष्टि से सही थी। स्कूल में चार से तेरह साल तक के बच्चों के पाठ्यक्रम में उन सभी गतिविधियों को लागू किया गया था जो ऐसे सिद्धांतों से संबद्ध थीं जिनकी श्रीमती फ्रोएबल समर्थक थीं। आमतौर पर ये सिद्धांत इस प्रकार हैं :

1. स्कूल का मुख्य काम बच्चों को सहयोगी व परस्पर सहायता करने वाली भावना के साथ रहना सिखाना है। उनमें परस्पर आश्रय की जागरूकता जगाना है। उनके सारे प्रत्यक्ष कार्यों में ऐसा सामंजस्य बैठाना सिखाना है जो

इस भावना को बनाए रखे।

2. सभी शिक्षा संबंधी गतिविधियों का मूल बच्चे की नैसर्गिक, उत्प्रेरक प्रवृत्तियों एवं कार्यकलाप में है न कि बाहरी सामग्री के प्रस्तुतीकरण व विनियोग में। चाहे वह दूसरों के विचारों के माध्यम से हो या फिर चेतना के माध्यम से। बच्चों की अनगिनत गतिविधियां, खेलकूद, नकल करने की कोशिशें, और उनके निरर्थक लगने वाले प्रयास, जिनको व्यर्थ, बचकाना, यहां तक कि निश्चित तौर पर बुरा समझा जाता था–ये सब शिक्षा के लिए बहुत उपादेय हैं। ये शिक्षा पद्धति की आधार शिलाएं हैं।
3. इन व्यक्तिगत प्रवृत्तियों व कार्यकलाप को इस तरह व्यवस्थित एवं निर्देशित किया जाता है कि वे उपरोक्त सामुदायिक जीवन जीने में उपादेय बनती हैं। इनका लाभ बृहत्तर परिपक्व समाज के कार्यकलाप व पेशों की पुनरावृत्ति के लिए उठाया जाता है। वह समाज जिसका उसे अंततः हिस्सा बनना है। उत्पादन व सृजनात्मक उपयोग के जरीए मूल्यवान ज्ञान अर्जित व संचित किया जाता है।

ये वक्तव्य फ्रोएबल के शिक्षा दर्शन को सटीक रूप से प्रस्तुत करते हैं। स्कूल को इनका व्याख्याता होना चाहिए। इन पर अमल करने की कोशिश की जा रही है। इसके लिए बारह साल के बच्चों के लिए उतनी ही निष्ठा से काम किया जा रहा है जितना कि चार साल के बच्चों के लिए। सारे स्कूल में किंडरगार्टेन का माहौल रखने पर उस अवधि के कार्यकलाप में कुछ संशोधन आवश्यक हो जाते हैं जिसे तकनीकी तौर पर किंडरगार्टेन कहा जाता है। यानी बच्चों की चार से छः साल की उम्र की अवधि। यहां इसके कारण देना आवश्यक हो जाता है कि हालांकि उनमें

से कुछ का स्वरूप प्रत्यक्षतः मौलिक लगता है लेकिन वे फ्रोएबल की भावना के अनुकूल हैं।

खूल-कूद के बाबत

खेल को उससे संबद्ध नहीं करना चाहिए जो बच्चा बाहरी तौर पर करता है। यह अपनी संपूर्णता व समग्रता में उसकी मानसिक प्रवृत्ति का परिचायक है। बच्चे का स्वतंत्र रूप से खेलना उसकी क्षमताओं, सोच व शारीरिक हलचलों का परिचायक है। इन संतुष्टिकर कार्यों में उसके अपने बिंब व रुचियां प्रदर्शित होती हैं। नकारात्मक रूप से यह उसे आर्थिक दबाव से स्वतंत्र रखता है। दूसरों के भरणपोषण की आवश्यकता व आजीविका के दबाव से, जो किसी वयस्क के उत्तरदायित्व का निर्धारण करती है। सकारात्मक रूप से इसका अभिप्राय यह है कि अंतिम लक्ष्य बच्चे का पूर्ण विकास है। उसकी विकसित होती क्षमताओं का विकास जो उसे एक स्तर से दूसरे स्तर की ओर अग्रसर करती है।

यह एक अति सामान्य कथन है। इतना सामान्य कि इसकी व्यावहारिक उपयोगिता नहीं है। इसका विस्तार में महत्व व कार्यान्वयन केवल संभावना तक है। यह किंडरगार्टन पद्धति में कई आमूल परिवर्तनों की आवश्यकता का भी प्रतिपादन करता है। सीधी बात यह है कि खेल बच्चे की मनोवैज्ञानिक प्रवृत्ति का परिचायक है, न कि उसकी बाहरी हरकत का। इसका मतलब यह होता है कि किसी पूर्वनिर्धारित पद्धति, खेल, या पेशे का काम के अनुक्रम का अनुसरण करने का त्याग किया जाना चाहिए। एक समझदार शिक्षक फ्रोएबेल के (मदर्स प्ले में व अन्यत्र दिए गए) सिद्धांतों के संकेतों को खोजता है। लेकिन साथ ही वह बारीकी से देखता व विश्लेषित करता है कि क्या ये उसके बच्चों के लिए उपयोगी हैं। या फिर जब प्रतिपादित किए

गए केवल उस अतीत की सामाजिक स्थितियों में महत्व रखते थे। कई मानी में अनुमान उनके विरुद्ध जाते हैं। अनुमान है कि फ्रोएबेल ने जिन बाहरी गतिविधियों की चर्चा की थी, उनकी आराधना करने में हम उन के प्रतिपादित सिद्धांतों के प्रति निष्ठावान नहीं रहे।

शिक्षक को किसी भी स्रोत से सुझाव लेने को स्वतंत्र रहना चाहिए। पर उसे खुद से ये दो सवाल पूछने चाहिए : क्या प्रस्तावित खेल का अंतरंग बच्चे को अपना प्रतीत होगा? क्या यह ऐसा है जिसमें उसकी अपनी प्रवृत्ति का मूल हो और जो उसकी उन क्षमताओं को परिपक्व होने में सहायक हो जो उसमें अभिव्यक्ति के लिए प्रयास कर रही हैं? और क्या प्रस्तावित गतिविधि बच्चे को केवल उत्प्रेरित करके और भविष्य के लिए कुछ और उत्प्रेरणा व तांत्रिक क्लांति देकर फिर वहीं छोड़ने के बजाय जहां वह था, उस अंत:प्रेरणा को अभिव्यक्ति देगी जो उसे जागरूकता एवं सक्रियता के उच्चतर स्तर पर ले जाएगी?

इस बात के प्रयाप्त साक्ष्य हैं कि फ्रोएबेल ने अपने समय के बच्चों के खेलों और उन खेलों का बारीकी से व परिश्रम पूर्वक अध्ययन किया जो माताएं अपने बच्चों के साथ खेलती हैं। उन्होंने यह भी बहुत यत्नपूर्वक बताया, जैसा कि *मदर्स प्ले* में कि इसमें बड़े पैमाने पर अभिप्राय निहित हैं। चूंकि बच्चे ऐसा करते हैं इसलिए यह महज बचकानी हरकतें नहीं। यह उनके विकास के आवश्यक कारक हैं। लेकिन मुझे इसका तनिक भी साक्ष्य नहीं मिलता कि उनके अनुमान में केवल खेल अर्थपूर्ण होते हैं। या उनकी दार्शनिक व्याख्या में इसके अतिरिक्त कोई और उद्देश्य था। इसके विपरीत मेरे विचार में वह चाहते थे कि उनके अनुयायी उनके द्वारा संकलित खेलों को अक्षरश: लागू करने के बजाय समसामयिक स्थितियों एवं गतिविधियों का अध्ययन करके इसे आगे बढ़ाएं। इसकी भी संभावना कम है कि फ्रोएबेल इससे

संतुष्ट रहते कि उन्होंने अपने समय की मनोवैज्ञानिक व दार्शनिक अंतर्दृष्टि की व्याख्या प्रस्तुत की। हमारा अनुमान है कि वह इससे बेहतर विशद मनोविज्ञान के विकास का स्वागत करते। (चाहे वह सामान्य, प्रायोगिक अथवा बच्चों के बारे में अध्ययन से संबंधित हो)। वह उसके परिणामों का लाभ गतिविधियों की व्याख्या, उन पर और तर्क के साथ चर्चा करते। वह नए आयाम से आरंभ करते और उन कारणों को खोजते जिनसे शिक्षा अधिक उपादेय हो।

प्रतीकात्मकता

यह स्मरण रखना होगा कि फ्रोएबेल की प्रतीकात्मकता उनके अपने जीवन व कार्य की दो विशिष्ट स्थितियों की देन है। पहली बात तो यह कि उनके समय में क्रियात्मक एवं मनोवैज्ञानिक तथ्यों एवं बच्चों के विकास के सिद्धांतों का पर्याप्त ज्ञान न था। इसलिए वे खेलों के साथ संबद्ध मूल्यों की अवास्तविक व्याख्या करने को बाध्य हुए। निष्पक्ष पर्यवेक्षक के लिए उनके कई वक्तव्य दुर्वाह हैं जिनके लिए उन्होंने अमूर्त मनोवैज्ञानिक कारण दिए है और आज जिनका सरल प्रतिपादन उपलब्ध है। दूसरी बात यह कि तत्कालीन जर्मनी की सामाजिक व राजनीतिक परिस्थितियां ऐसी थीं कि किंडरगार्टेन की और बाहरी दुनिया के स्वतंत्र, सहकारी सामाजिक जीवन के बीच की निरंतरता की परिकल्पना करना असंभव था। इसलिए वह कक्षा के 'व्यावसायिक कर्म' को सामुदायिक जीवन के नैतिक सिद्धांतों की पुनरावृत्ति नहीं मान सकते थे। क्योंकि वहां ये इतने प्रतिबंधित थे कि उनको अच्छा मॉडल नहीं बनाया जा सकता था।

लिहाजा वह इनको अमूर्त नैतिक व दार्शनिक सिद्धांतों के प्रतीक मानने को बाध्य हुए। आज के अमेरिका की सामाजिक स्थितियों में तत्कालीन जर्मनी की तुलना में निश्चय ही बहुत

विकास दिखाई देता है। जिसके चलते किंडरगार्टेन की गतिविधियों को आज के जीवन को फ्रोएबेल दर्शन के अनुयायी जैसा करते उससे अधिक स्वाभाविक, अधिक प्रत्यक्ष व अधिक वास्तविकता का द्योतक बनाना समुचित है। आज भी फ्रोएबल के दर्शन और जर्मन राजनीतिक आदर्शों में विषमता के कारण जर्मनी के नियामक किंडरगार्टेन के प्रति शंकालु हैं। इसमें संदेह नहीं कि वहां कोई शक्ति उनकी सामाजिक सहजता को एक जटिल बौद्धिक तकनीक में परिवर्तित करने में संलग्न है।

खेल और कल्पना

प्रतीकात्मकता पर अधिक बल देने से कल्पनाशीलता पर प्रभाव पड़ना निश्चित है। यह सही है कि एक छोटा बच्चा कल्पना की दुनिया में रहता है। एक मानी में वह केवल वही कर सकता है जो ''अयथार्थ'' हो। वह अपने आसपास जो जीवन देखता है, उसकी गतिविधियां उसी का प्रतिनिधित्व करती हैं। क्योंकि वे इस तरह का प्रतिनिधित्व करती हैं, उनको प्रतीकात्मक कहा जा सकता है। लेकिन इस बात को ध्यान में रखना चाहिए कि इस तरह की अयथार्थता या प्रतीकात्मकता को संदर्भ प्रभावित करने वाली गतिविधियों से मिलता है। जब तक वे बच्चे के लिए ऐसी न हों जैसी कि किसी वयस्क के लिए वास्तविक और निश्चित होती हैं, उनके परिणाम अनिवार्य रूप से कृत्रिम होते हैं। इनसे स्नायुविक दबाव होता है। इनसे या तो शारीरिक व मानसिक उत्तेजना होती है या फिर क्षमता की क्षति होती है।

किंडरगार्टेन में एक विचित्र और रहस्यमय चलन है। वहां यह मान लिया जाता है कि चूंकि किसी गतिविधि का मूल्य इसमें निहित है कि वह बच्चे के लिए क्या महत्व रखती है, इसलिए इस्तेमाल की जाने वाली सामग्री यथासंभव कृत्रिम होनी चाहिए। हमें वास्तविक वस्तुओं व वास्तविक क्रियाकलाप से यत्नपूर्वक

दूर रहना चाहिए। इस तरह हम सुनते आए है कि बागवानी के लिए असली बीजों की जगह रेत के कण बिखेरे जाते हैं। बच्चा एक अवास्तविक कमरे की अवास्तविक कपड़े व झाड़ू से झाड़पोंछ करता है। वह कागज के सपाट टुकड़ों से खाने की मेज सजाता है। (यह कागज भी ज्यामिति के आकारों में कटा होता है न कि प्लेटों के आकारों में)। उसे वे चायपान के खिलोने नहीं दिए जाते जिनसे बच्चा किंडरगार्टेन के बाहर खेलता है। गुड़िया, खिलौना रेल इंजन या डिब्बे वर्जित हैं, क्योंकि वे काफ़ी वास्तविक लगते हैं। इसलिए इनसे बच्चे की कल्पना का विकास नहीं होता।

यह सब निश्चिय ही अंधविश्वास है। बच्चा जिन चीजों का इस्तेमाल करता है उनकी स्मृतियों, पूर्वानुमान, संकेतों के समुच्चय से ही बच्चे के खेल की कल्पनाएं उपजती हैं। ये जितनी स्वाभाविक और सरल होगीं उसका खेल उतना ही कल्पनाजन्य व उसके अनुभूत संकेतों का प्रतिनिधित्व करने वाला होगा। साधारण खाना बनाना, बर्तन धोना, झाड़ू-पोंछा वगैरा जो कुछ बच्चे करते हैं, वह उनके लिए नीरस या मात्र व्यावहारिक नहीं होता। यह उनके लिए दिलचस्प खेल होता है। बच्चों के लिए ये काम उन रहस्यमय मूल्यों से जुड़े हैं जो उनके बड़े किया करते हैं। इसलिए इनके लिए सामग्री यथासंभव वास्तविक और स्पष्ट होने चाहिए।

लेकिन सिद्धांत यहीं समाप्त नहीं होते। प्रतीकात्मक वास्तविकता को बच्चे की अपनी समझ की क्षमता के दायरे में होना चाहिए। कई बार ऐसा समझा जाता है कि कल्पना का उपयोग हरेक तात्विक या आध्यात्मिक सिद्धांत के लिए लाभदायक होता है। ऐसे अधिकांश मामलों में यह कहना सही होगा कि वयस्क खुद को धोखा देते हैं। उसे वास्तविकता व प्रतीक दोनों का भान होता है। इसलिए वह इन दोनों के बीच के संबंधों को जानता है। चूंकि ये जिस सत्य का प्रतिनिधित्व करते हैं, वह बच्चे की पहुंच से बाहर होता है, इसलिए अनुमानित प्रतीक बच्चे के लिए प्रतीक

नहीं होता। यह उसके लिए एक सार्थक वस्तु होती है। व्यवहारतः वह उसमें से उसके भौतिक व संवेदनात्मक अर्थ ही निकाल पाता है। इसके साथ वह कुछ वाक्यांशों के निर्बाध अर्थ या प्रवृत्तियों को ग्रहण करता है जो टीचर ने बताई होती हैं और जो उसे सीखनी होती हैं। लेकिन यह उसके अपने मानसिक प्रतिरूप के बिना ही होता है। जब हम प्रतीकों के माध्यम से आध्यात्मिक सत्य की शिक्षा दे रहे होते हैं तो हम वास्तव में अक्सर अनिष्ठा सिखा रहे होते हैं या फिर भावुकता का पोषण कर रहे होते हैं। इसलिए बच्चा जिन वास्तविकताओं का पुनःसृजन करता है वे यथासंभव ऐसे स्वरूप में होनी चाहिए जिनसे बच्चा परिचित हो, जो उसके लिए प्रत्यक्ष व वास्तवकि हों। मुख्यतः इसी कारण से हमारे स्कूल के किंडरगार्टेन में होने वाला काम घर व पासपड़ोस के जीवन के पुनःसृजन पर केंद्रित है। इससे हम विषय सामग्री की ओर आते हैं।

विषय सामग्री

घरेलू जीवन में वहां के वातावरण से संबंधित वस्तुएं जैसे फर्नीचर, बर्तन आदि व वहां होने वाले काम ऐसी सामग्री पेश करते हैं जिनसे बच्चे का सीधा संबंध होता है। वह स्वभावतः काल्पनिक रूप में इनका पुनःसृजन करता है। यह भी नीतिपरक संबंधों व नैतिक कर्तव्य का तकाजा है कि बच्चे को नैतिकता विषयक पर्याप्त सामग्री उपलब्ध कराई जाए। हमारा प्रोग्राम दूसरे बहुत से किंडरगार्टेंस के मुकाबले कम महत्वाकांक्षी है। लेकिन यह पूछा जा सकता है कि विषय सामग्री को इस तरह सीमित रखने के क्या कुछ निश्चित सकारात्मक लाभ हैं? जब बहुत अधिक विषय आधार को लेकर चलें (जिसमें औद्योगिक समाज, सेना, गिरजाघर, राष्ट्र आदि से संबंधित कार्य) तो कार्य अति प्रतीकात्मक बनने लगता है। चार या पांच साल के बच्चे के लिए

इसमें से इतना अधिक कार्य उसके अनुभवों से बाहर होता है कि जो कुछ इसमें से निकलता है वह शारीरिक या भावनात्मक प्रतिवर्तन ही होता है। सामग्री में उसकी वास्तविक पैठ नहीं बन पाती। इसके अलावा ऐसे महत्वाकांक्षी प्रोग्रामों में बच्चे की अपनी बौद्धिक प्रवृत्ति पर विपरीत प्रतिक्रिया होती है। लगभग सारे संसार का अवास्तविक तरीके से अध्ययन करने से वह अघा जाता है। सामान्य वस्तुओं व सीधे अनुभवों के लिए भी उसकी बौद्धिक क्षुधा समाप्त हो जाती है। वह प्राथमिक पाठशाला की प्रथम स्तर की सामग्री को भी इस भावना के साथ देखता है कि यह तो उसे पहले से उपलब्ध हो चुकी है। बच्चे के जीवन के बाद के सालों पर उसका अपना अधिकार बनता है। कृत्रिम या भावनात्मक पूर्वानुमान बच्चे को हानि पहुंचा सकता है।

इसके अलावा इस बात की आशंका भी है कि एक विषय से दूसरे विषय पर फांद कर जाने की प्रवृत्ति बन सकती है। छोटे बच्चे में अपनी तरह का धैर्य व सहनशीलता होती है। यह सच है कि नवीनता व विविधता में उसकी रुचि होती है। वह ऐसी गतिविध से जल्दी उकता जाता है जो उसे किसी नएपन की ओर न ले जाती हो और खोज के एक रास्ते न खोलती हो। मैं एकरसता की वकालत नहीं कर रहा हूं। घर की साजसज्जा व उपकरणों में काफी विविधता होती है। इनसे बच्चे को निरंतर भिन्नता मिलती रहती है। यह किसी न किसी बिंदु पर सामाजिक व औद्योगिक जीवन का स्पर्श भी देती है। जब जरूरी हो मुख्य विषय से दूर जाए बिना इसके बाबत भी बताया जा सकता है। तब उस निरंतरता की चेतना को पुष्ट करने का अवसर मिलता है जो बौद्धिक विकास व एकाग्रता का आधार है।

इस निरंतरता को पाने के लिए किए गए प्रयास ही बहुधा उसमें बाधक बनते हैं। बच्चे के दृष्टिकोण से एकता विषय सामग्री में होती है। इस मामले में इस तथ्य में कि उसका सदा

एक वस्तु से सरोकार है, उसके घर के जीवन से। महत्व उसके जीवन के एक चरण से दूसरे चरण तक निरंतरता के साथ बढ़ता चला जाता है। वह एक काम से दूसर तक, एक फर्नीचर से दूसरे तक, एक संबंध के बाद दूसरे तक। ये क्रमशः उसका ध्यान आकर्षित करते हैं। पर ये सभी मिल कर एक ही जीवन शैली का भाग बनाते हैं। कभी यह उपकरण प्रमुखता में आता है कभी वह। बच्चा हर समय एक इकाई में काम कर रहा होता है। जिसके स्वच्छता व निश्चितता के विभिन्न चरणों से वह गुजरता है और उनके परस्पर संबंधों को समझता है। जब विषय सामग्री में बहुत विविधता होती है तो निरंतरता औपचारिक तरीके में खोजी जाती है। स्कूल के काम की चरणबद्ध योजनाएं। विकास का एक निश्चित कार्यक्रम जिसके विभिन्न विषय होते हैं। उस ''दिन का विचार'', काम जिससे भटक नहीं सकता। नियमतः यह क्रम पूर्णतः बौद्धिक होता है। इसलिए इसे केवल टीचर ही समझ पाता है। बच्चे के तो वह सिर के ऊपर से गुजर जाता है। इसलिए किसी साल, महीने, सप्ताह आदि के काम का निर्धारण इस आधार पर होना चाहिए कि आम विषय सामग्री का अध्ययन करने में कितना समय लग सकता है न कि बौद्धिक या नैतिक सिद्धांतों के आधार पर।

पद्धति

आरंभिक कक्षाओं की विशेष समस्या यह होती है कि बच्चे के सहज आवेग और प्रवृत्तियों को कैसे नियंत्रित किया जाए ताकि वह कैसे उनका उपयोग करते हुए उसे प्रतीतियों, निर्णय आदि के उच्चतर स्तर पर पहुंचाया जाए। कैसे उसमें अधिक सक्षम आदतों का विकास किया जाए जिनसे उसकी चेतना में गहराई आए और क्रियाशीलता की क्षमता पर अधिक नियंत्रण कर सके। लेकिन यह परिणाम नहीं मिल सका है। खेल का परिणाम

केवल मनोरंजन के रूप में सामने आता है, शिक्षण में वृद्धि के रूप में नहीं।

हमारे सामने दो लक्ष्य हैं। बच्चे के आवेग में प्रवर्तन और उसे उच्चतर स्तर पर पहुंचाना। उन दोनों लक्ष्यों के लिए किसी अन्य वस्तु से बढ़कर 'निर्मित कार्य' बेहतर रहता है। (इसमें कहानी, गाने या खेल में उचित परिवर्तन शामिल है जो उसे निर्माण के विचार के अनुरूप बनाए।) इससे बच्चा सामग्री की बहुत सी विविधता के संपर्क में आता है। लकड़ी, टीन, चमड़ा, यार्न। उसे इन चीजों के वास्तविक इस्तेमाल का उद्देश्य मिलता है, बजाय ऐसे अभ्यास के जो किसी दूरस्थ प्रतीकात्मक अर्थ के अलावा और कोई मानी न रखता हो। इससे खेल में चेतना की जागरूकता व अवीक्षण की तीक्ष्णता आती है। इससे वांछित परिणामों की स्पष्ट कल्पना की जा सकती है। इसके लिए आयोजन में प्रवीणता व ईहाद की जरूरत होती है। इसके लिए सघन एकाग्रता आवश्यक है। काम को कार्यान्वित करने में निजी उत्तरदायित्व भी चाहिए। इसके परिणाम ऐसे प्रत्यक्ष होते हैं कि बच्चा खुद अपने काम का निर्धारण करके उसमें सुधार ला सकता है।

किंडरगार्टेन के काम में अनुकरण व सुझाव के मनोविज्ञान के बारे में यहां कुछ कहना उचित होगा। इसमें संदेह नहीं कि छोटा बच्चा अति अनुकरणशील होता है। वह सुझावों का भी स्वागत करता है। इसमें कोई संदेह नहीं कि उसकी अपरिष्कृत क्षमताओं और अपरिपक्व चेतना को इन दो तरीकों से निर्देशित किया जाना चाहिए। लेकिन इस मामले में उसे अनुकरण व सुझाव में जो बाहरी और नितांत अमनोवैज्ञानिक है और ऐसे प्रयोग में जो बच्चे के क्रियाकलाप के साथ जैविक संबंध रखते हों, अंतर करना आवश्यक हो जाता है। सामान्य नियम के तौर पर किसी भी गतिविधि की कृत्रिम व्यवस्था नहीं होनी चाहिए। इसकी शुरुआत बच्चे की तरफ से होनी चाहिए। उसके बाद उसकी प्रतिकृति या माडल उसे उपलब्ध

कराया जा सकता है जिससे बच्चे को सहायता मिले। जिससे वह अधिक निश्चित कल्पना कर सके कि वह चाहता क्या है। जो उसकी चेतना को जगाए। इसका महत्व गतिविधि का अनुकरण करके मॉडल तैयार करने में नहीं है। बल्कि उसकी अवधारणा को स्पष्ट करने में उसका निर्देशन करने में है। अगर बच्चा कार्यान्वयन के समय उससे स्वतंत्र अपनी कल्पना के अनुसार नहीं चलता तो वह एक निर्भर गुलाम हो जाएगा। उसका विकास नहीं होगा। कल्पना आरंभ करने के लिए नहीं, पुष्ट करने व सहायता के लिए होती है।

यह मानने में कोई दम नहीं कि टीचर को बच्चे को कोई सुझाव नहीं देना चाहिए जब तक कि वह जागरूक तौर पर इसकी मांग न करे। इस बात की पूरी संभावना है कि एक हमदर्द टीचर को बच्चे से ज्यादा स्पष्टता से जानता है कि उसकी मूल प्रवृत्ति क्या है और उसके क्या मानी हैं। लेकिन सुझाव ऐसा होना चाहिए जो बच्चे के विकास की मुख्य प्रणाली से मेल खाता हो। बच्चा जो कुछ अनदेखे तरीके से करने की कोशिश कर रहा है, यह उसे स्पष्ट तौर पर करने को प्रेरित करने वाला होना चाहिए। केवल बच्चे को देखते रहने और सुझावों के प्रति उसकी मूल प्रवृत्ति का अवलोकन करके ही हम वह बच्चे के विकास के कारक के तौर पर काम कर रहे हैं या फिर केवल बाहरी, एकतरफा ऊपर से थोपा गया कारक है जो उसके सामान्य विकास में हस्तक्षेप कर रहा है।

यही सिद्धांत तथाकथित निर्देश कार्यों के बारे में भी लागू होता है। यह मानने से अधिक अनर्गल कुछ नहीं हो सकता कि किसी बच्चे को उसकी अपनी झक पर छोड़ने और औपचारिक सुझाव व निर्देशों के बीच और कुछ नहीं होता। जैसा कि पहले कहा गया है यह देखना टीचर का काम है कि बच्चे के विकास की किसी अवधि के दौरान कौन सी क्षमताएं अभिव्यक्त होने के

लिए प्रयासरत हैं। कौन सी गतिविधि उस अभिव्यक्ति में सहायक होगी। फिर वह इसके लिए आवश्यक सामग्री व उत्प्रेरक उपलब्ध कराएगा। उदाहरण के लिए एक प्ले हाउस का सुझाव जो दूसरे बच्चे को काम करते हुए देखने पर तत्संबंधी सज्जा के लिए मिलता है, पांच वर्ष के एक बच्चे को निर्देशित करने के लिए निश्चय की पर्याप्त होगा। लेकिन ये उसकी अपनी इच्छाओं व विचारों की पूर्ति के उपकरणों के तौर पर उसे दिए जाने चाहिए। वह जो कुछ भ्रम एवं अस्पष्टता के साथ और फलस्वरूप अप्रभावी तरीके से कर रहा है, ये उसे महसूस करने व उसकी चेतना को उकसाने में सहायक होने चाहिए। मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से यह कहा जा सकता है कि जब किसी टीचर को आदेशित निर्देशों की सीरीज का अनुसरण करना पड़ता है तो वह इसलिए जब बच्चे के पास क्या करना है या क्यों करना है, इसके बारे में अपना कोई बिंब न हो। तब निर्देशों के अनुसार चल कर नियंत्रण की क्षमता अर्जित करने के बजाय वह उसे खोने लगता है। उसे किसी बाहरी स्रोत पर निर्भर बना दिया जाता है।

निष्कर्ष के तौर पर यह कहा जा सकता है कि इस तरह की विषय सामग्री और शिक्षा पद्धति छः साल के बच्चे के काम से सीधा संबंध जोड़ती है। (उसके प्राथमिक दर्जे के काम के अनुरूप)। घर के जीवन का पुनःसृजन करने वाले खेल, सहज रूप से अधिक विशद व गंभीर अध्ययन की ओर बढ़ जाते हैं। वह बृहत्तर सामाजिक पेशों की तरफ बढ़ते हैं जिन पर घर आश्रित है। आयोजित करने व कार्यान्वित करने के लिए बच्चे से की जाने वाली और अधिक मांग उसे और अधिक बौद्धिक विषयों पर केंद्रित होने के लिए अधिक नियंत्रित एकाग्रता की ओर ले जाती है। यह कभी नहीं भूलना चाहिए कि किंडरगार्टेन और पहले दर्जे के बीच निरंतरता बनाए रखने के लिए किए जाने वाले परिवर्तन केवल पहले दर्जे से ही नही आने चाहिए। स्कूल

का परिवर्तन उतना ही धीमा और असंवेदी होना चाहिए जैसा कि बच्चे का विकास होता है। यह तब तक संभव नहीं जब तक कि प्राइमरी से पहले का काम उन सब का त्याग नहीं करता जो इसे पृथक करते हैं। जब तक वह उस सारी सामग्री का स्वागत नहीं करता जो बच्चे के संपूर्ण विकास के साथ-साथ उसी रफ्तार से चलती है और इस तरह उसे सदा अगले काम के लिए तैयार रखती है।

7

काम का मनोविज्ञान

काम से हमारा तात्पर्य किसी ऐसे व्यस्त कार्य या अभ्यास से नहीं है जो बच्चे को शरारतों से दूर रखने या डेस्क पर बैठकर सुस्त हो जाने से बचाने के लिए किया जाए। इससे हमारा तात्पर्य ऐसी गतिविधि है जो सामाजिक जीवन में किए जाने वाले किसी किस्म के काम के समानान्तर हो या उसका पुनःसृजन करती हो। विश्वविद्यालय के प्राथमिक स्कूल में ये काम कार्यशाला के कार्य के रूप में संपादित होते हैं। इनमें लकड़ी और औजारों का इस्तेमाल होता है। इनमें खाना बनाना, सिलाई, वस्त्र निर्माण आदि के काम शामिल हैं जिनका कि पहले जिक्र किया जा चुका है।

किसी काम के मनोविज्ञान में मूल बिंदु यह है कि यह अनुभव के बौद्धिक व व्यावहारिक चरणों में संतुलन बनाए रखता है। एक काम के तौर पर इसमें सक्रियता व गति होती है। यह हाथ, आंखों आदि शारीरिक अंगों से अभिव्यक्ति पाता है। लेकिन इसमें पदार्थों का निरंतर अवीक्षण, निरंतर आयोजन व चिंतन भी शामिल होता है ताकि प्रयोग का कार्यान्वयन सफलतापूर्वक हो। इस तरह के काम को चुनते समय सावधानी बरतनी चाहिए कि यह मुख्यतः पेशे के लिए प्रशिक्षित करने वाले काम से भिन्न हो। यह इसलिए भिन्न होता है क्योंकि यह अपने आप में एक उद्देश्य है। विचारों के साथ निरंतर खेल से बच्चे का विकास होता है।

इसका मूर्त रूप सक्रियता में प्रकट होता है, किसी बाहरी उपयोग में नहीं।

इस तरह के काम को व्यवसाय के स्कूल से भिन्न स्कूलों में किया जा सकता है ताकि सारा जोर हाथ के काम या शारीरिक कार्य पर हो। ऐसे में काम दिनचर्या रस्म के तौर पर किया जाता है। उसका शिक्षण का महत्व समाप्त हो जाता है। यही प्रवृत्ति अनिवार्य रूप से जारी रहती है। उदाहरण के लिए किसी भी हाथ से किए जाने वाले काम के प्रशिक्षण में मूल उद्देश्य किन्ही औजारों के इस्तेमाल या किन्हीं वस्तुओं के निर्माण में महारत कराना होता है। इनमें बच्चे को किसी तरह की बौद्धिक जिम्मेदारी नहीं सौंपी जाती कि वह सबसे अधिक उपयोगी सामग्री या औजारों का चयन खुद करे। वह अपने लिए खुद काम करने के मॉडल या आयोजन के बारे में सोचे। वह अपनी गलतियों को देखे और उनको सुधारने का तरीका खोजे। निश्चय ही यह सब उसकी क्षमता के दायरे में होगा। जब ध्यान शिक्षण के दौरान बच्चे के मानसिक या नैतिक विकास के बजाय बाहरी परिणामों पर केंद्रित रहता है, तो इसे हाथ काम तो कहा जा सकता है लेकिन काम में संलग्न करना नहीं। इस तरह की प्रवृत्ति से वही हासिल होता है जो अवचेतन व यांत्रिक होता है। लेकिन काम में संलग्न करने का लक्ष्य जो कुछ किया जा रहा है उसमें अधिकतम संचेतना का प्रयोग होता है।

इससे यह समझने में मदद मिलती है कि कितना जोर दिया जाता है (क) व्यक्तिगत रूप से प्रयोग करने, आयोजन करने व वस्त्र निर्माण से संबंधित अन्वेषण में और (ख) ऐतिहासिक विकास की इसके साथ समानांतरता में। पहले काम के लिए बच्चे को हर स्तर पर मानसिक रूप से बहुत फुर्तीला और चौकन्ना रहना पड़ता है ताकि वह बाहरी काम को ठीक से संपादित कर सके। दूसरा उसके द्वारा किए गए काम से पुनःगृहीत सामाजिक मूल्यों से समृद्ध करता है।

इस तरह से सुविचारित काम चेतना को प्रशिक्षित करने के अलावा विचारों को अनुशासित करने के अवसर भी प्रदान करते हैं। चेतना को प्रशिक्षित करने के लिए तैयार किए गए सबक में यह कमजोरी होती है कि उसमें अपने अलावा और कोई अभिव्यक्ति का मार्ग नहीं होता। इसलिए उसमें कोई आवश्यक उद्देश्य नहीं होता। किसी व्यक्ति या नस्ल के सामान्य अवलोकन में हमेशा कोई कारण होता है। हमेशा कोई आवश्यकता होती है किसी परिणाम तक पहुंचने की। यह देखने की कि क्या उसे परिणाम तक पहुंचाने में सहायक हो सकता है। सामान्य चेतना किसी सुराग, किसी सहायता या प्रेरणा के लिए काम करती है। वह उस क्रिया की ओर निर्देशित करती है जो अभीष्ट है। वह अपने आप में कोई उद्देश्य नहीं होती। वास्तविक आवश्यकताओं व उद्देश्यों से पृथक चेतना का प्रशिक्षण कलाबाजी की तरह हो जाता है। वह अवलोकन की तरकीबों तक सीमित होकर रह जाता है या फिर चेतना की इंद्रियों को उत्प्रेरित मात्र करता है। सामान्य सोच-विचार पर भी यही सिद्धांत लागू होता है। यह भी केवल अपने कारण ही पैदा नहीं होता। यह अपना लक्ष्य स्वयं नहीं होता। यह किसी कठिनाई का सामना करने की आवश्यकता से उपजता है। उसका समाधान पाने के सबसे अच्छे तरीके के चिंतन से उपजता है। वह आवश्यक परिणाम तक पहुंचने के लिए जरूरी मानसिक आयोजन, उसके लिए आवश्यक चरणों के व उनके क्रम के बारे में सोचने की ओर ले जाता है। यह कार्यकलाप का तर्क नितांत काल्पनिक या अमूर्त की पड़ताल से कहीं आगे ले जाता है। इससे जो मानसिक आदतें बनती हैं वह बाद वाले कार्य की तैयारी में बहुत उपादेय होती हैं।

इस तरह के काम एक और शैक्षणिक बिंदु पर प्रकाश डालते हैं। यह है स्कूल में दिलचस्पी का स्थान। स्कूल में काम को बच्चे की दिलचस्पी का कोई बड़ा या सार्थक स्थान देने के

विरुद्ध सबसे बड़ा एतराज यह होता है कि इसके लिए उपयुक्त चुनाव करना असंभव है। कहा जाता है कि बच्चे की कई तरह की रुचियां होती हैं। अच्छी, बुरी या नगण्य भी। इस बात का निर्णय लेना आवश्यक हो जाता है कि कौन सी रुचि सचमुच महत्वपूर्ण है, कौन सी तुच्छ। कौन सी सहायक है कौन सी हानिकारक। वे जो अस्थायी हैं, तुरंत आवेश देती है और वे जो टिकाऊ होती हैं, स्थायी प्रभाव छोड़ती हैं। ऐसा लगता है कि हमें दिलचस्पी का इस्तेमाल करने के लिए दिलचस्पी से आगे जाना होगा। तभी हम दिलचस्पी का इस्तेमाल करने का आधार खोज सकेंगे।

इसमें कोई शक नहीं कि पेशे से संबंधित काम बच्चे के लिए बहुत दिलचस्पी रखते हैं। किसी भी ऐसे स्कूल में जरा सा झांक लेने से, जहां ऐसा काम हो रहा हो, इस बात का प्रमाण मिल जाएगा। स्कूल के बाहर बच्चों के खेलों का बहुत बड़ा हिस्सा सामाजिक पेशों के बेतरतीब व लघु पुनःसृजन में बीतता है।

इस पर विश्वास करने के कतिपय कारण हैं कि इन कार्यों से जो दिलचस्पी पैदा होती है वह पूर्णतः स्वस्थ, स्थायी और शैक्षणिक महत्व की होता है। पेशे से संबंधित कामों को अधिक स्थान देकर हम बच्चे की दिलचस्पी को आकर्षित करने का संभवतः सबसे अच्छा जरीया पा लेते हैं। इसके साथ ही इस बात की गारंटी भी मिलती है कि हम केवल मनोरंजन, उत्तेजना या अस्थायित्व के लिए प्रयास नहीं कर रहे हैं।

पहली बात तो यह है कि कोई भी दिलचस्पी किसी ऐसी प्रवृत्ति या आदत से उत्पन्न होती है जो किसी मौलिक प्रवृत्ति पर आधारित हो। इसका मतलब यह नहीं कि सभी प्रवृत्तियां समान मूल्य रखती हैं या हम हर ऐसी बहुत सी प्रवृत्तियों को विरासत में नहीं लेते जिनमें संतुष्टि की जगह जीवन में उपयोगी होने के

लिए परिवर्तन की आवश्यकता हो। जो प्रवृत्तियां किसी पेशगत काम में अपनी अभिव्यक्ति व सचेतन निर्गम पाती हैं वे निश्चय ही मूलभूत और स्थायी किस्म की होती हैं। जीवन की गतिविधियां आवश्यकता जनित होती हैं। उनके लिए हम प्रकृति की शक्तियों व सामग्री को अपने उपयोग के लिए नियंत्रित करते हैं। उनको हम जीवन के उद्देश्यों की पूर्ति के लिए सहायक बनाते हैं। जीविका के लिए लोगों को काम करना पड़ता है। अपने काम के द्वारा उन्होंने प्रकृति पर नियंत्रण पा लिया। उन्होंने अपनी जिंदगी की स्थितियों को सुरक्षित रखा और उन्हें समृद्ध किया। उनको अपनी शक्तियों का भान हुआ। उन्होंने अन्वेषण, आयोजन करना सीखा और अपनी कुशलता की उपलब्धियों का सुख पाया। मोटे तौर पर हम कह सकते हैं कि मानव की सभी पेशेगत गतिविधियां उसे उस संसार से जोड़ती हैं जिसमें वह रहता है। जीवित रहने के लिए भोजन, अपनी सुरक्षा व सज्जा के लिए वस्त्र व आश्रय पाना। और अंततः ऐसा स्थायी घर पाना जो सभी आध्यात्मिक रुचियों का केंद्र बन सके। ऐसा सोचना अनुचित नहीं हो सकता कि जिन दिलचस्पियों की पृष्ठभूमि में ऐसा इतिहास है, वे अवश्य उपयुक्त होंगी।

जब ये रुचियां बच्चे में विकसित होती हैं तो वे न केवल हमारी नस्ल के अतीत की गतिविधियों का स्मरण कराती हैं, बल्कि बच्चे के वर्तमान परिवेश का पुनःसृजन भी करती हैं। वह अपने बड़ों का निरंतर ऐसे कार्यों में संलग्न देखता है। वह रोज ऐसी चीजों को देखता है जो इस तरह के काम का परिणाम होती हैं। वह ऐसे तथ्यों के संपर्क में आता है जिनका उनके संदर्भ के अलावा और कोई अर्थ नहीं होता। आज के सामाजिक जीवन से इन चीजों को निकाल दीजिए। फिर आप देखेंगे कि कितना कम बचता है। यह केवल भौतिक पक्ष में ही नहीं, बौद्धिक व नैतिक व सौंदर्यपरक गतिविधियों पर भी लागू होता है। क्योंकि ये भी

अधिकांशतः और अनिवार्यतः पेशे से जुड़ी होती हैं। लिहाजा इस दिशा में बच्चे की प्रवृत्तिजनक रुचियां जो कुछ वह देखता, अनुभव करता या सुनता है उससे निरंतर पुष्ट होती हैं। इस दौरान उसे लगातार सुझाव या संकेत मिल रहे होते हैं। उसके उद्देश्य जागृत होते हैं। उसकी ऊर्जा सक्रिय होने को उत्प्रेरित होती है। एक बार फिर यह मानना अनुपयुक्त न होगा कि जिन रुचियों को इस तरह निरंतर और इतने पहलुओं से प्रभावित किया जा रहा हो, वे उपयुक्त व स्थायी महत्व रखती हैं।

तीसरी बात यह है कि शिक्षा में रुचि के सिद्धांत पर यह आपत्ति की जाती है कि यह मानसिक कोश को विच्छिन्न करने की प्रवृत्ति रखती है। क्योंकि यह बच्चे को कभी इधर कभी उधर उद्वेलित करती रहती है। इससे निरंतरता व संपूर्णता को क्षति पहुंचती है। लेकिन कोई पेशेगत कार्य (जैसा कि उपरोक्त वस्त्र निर्माण का कार्य है), जरूरत वाला काम है और इसमें निरंतरता भी है। यह कुछ दिन या महीनों तक ही नहीं वर्षों तक चलता है। यह सतही या पृथक ऊर्जा को आड़ोलित करने वाला कार्य नहीं। यह सामान्य कार्य प्रणाली के अनुरूप ऊर्जा को निरंतर व्यवस्थित करने वाला है। दूसरे पेशे वाले कामों के बारे में भी यही सच है। जैसे आजारों के साथ कार्यशाला में काम करना या खाना बनाना। ये कार्य कई तरह के आवेगों को एक सुदृढ़ मेरुदंड वाले ढांचे में समायोजित करते हैं जो अन्यथा पृथक व अनियोजित होते हैं। इसमें संदेह किया जा सकता है कि इस तरह की संपूर्ण कार्यप्रणाली को सारी स्कूल-अवधि में लागू रखने के बजाय स्कूल के कार्य में 'रुचियों' को बहुत अधिक स्थान देना क्या हितकर होगा।

8

एकाग्रता का विकास

सब प्राइमरी या किंडरगार्टेन विभाग एक शिक्षा संबंधी समस्या का उत्तरदायित्व संभाल रहा है। यह समस्या किंडरगार्टेन के काम को प्राइमरी के साथ निकटता से जोड़ने के प्रयास से उपजी है। साथ ही परंपरागत सामग्री व तकनीक को वर्तमान सामाजिक स्थितियों में फिर से रूपांतरित करने व उनको हमारे वर्तमान मनोविज्ञान के ज्ञान के अनुकूल बनाने की समस्या भी है। इस कार्य का विस्तृत विवरण बाद में प्रकाशित किया जाएगा।

छोटे बच्चों का अवलोकन व विचार मुख्यतः लोगों की ओर आकर्षित रहते हैं। वे क्या करते हैं, किस तरह व्यवहार करते हैं, किन कामों में व्यस्त रहते हैं और इनका परिणाम क्या होता है। उनकी दिलचस्पी व्यक्तिगत होती है, न कि यथार्थपरक अथवा बौद्धिक। इसका बौद्धिक प्रतिरूप कहानी की विधा में होता है। इसमें काम, सचेतन रूप से परिभाषित परिणाम या समस्या नहीं होती। यानी कहानी का स्वरूप भौतिक होता है। वह एक विचार के जरीए विविध प्रकार के लोगों, वस्तुओं, घटनाओं को आपस में बांधती है। यह भावनाओं को रेखांकित करती है, न कि किन्ही बाहरी संबंधों या कथानक को। उनका मस्तिष्क वृतांत की विविधता के साथ संपूर्ण की चाह रखता है, जो घटनाक्रम से भरपूर हो और जिसकी रूपरेखा प्रमुखता से सुस्पष्ट हो। उसमें प्रयोग व

कार्य की अनुभूति हो। वस्तुओं का जिस विचार से वे बंधी हैं, उससे अलग करके निरीक्षण किया जा सके। पृथक विवरण या रूपाकार का विश्लेषण उनको न तो अच्छा लगता है न उनको संतुष्ट करता है।

आज की सामाजिक कार्यों से उपलब्ध सामग्री पर इस प्रवृत्ति को संतुष्ट करने व उसकी आवश्यकता पूर्ति के लिए विचार किया जाता है। पिछले सालों में बच्चे घर पर होने वाले कामों और घर में एक दूसरे से तथा उसका बाहरी दुनिया से संबंध से वास्ता रखते थे। अब वे व्यापक रूप से समाज में होने वाले कार्यों को लेना चाहेंगे। यह बच्चे के अहं व निजता में निमग्न रुचियों से एक कदम आगे है। फिर भी यह उन वस्तुओं से वास्ता रखता है जो व्यक्तिगत हों और जो उसे प्रभावित करती हों।

1. प्राकृतिक पदार्थों, क्रियाओं व संबंधों को अध्ययन के लिए मानवीय परिवेश में रखा जाता है। साल के दौरान, बीज, उनके उगने, पौधे, लकड़ी, पत्थर, पशु, उनकी आदतों व आकार के कुछ चरणों, परिदृश्यों की भौगोलिक स्थितियां, मौसम, जल व भूमि के व्यवस्थापन आदि के अध्ययन को लिया गया। शैक्षणिक समस्या बच्चे की अवलोकन क्षमता को निर्देशित करने, जिस संसार में वह रहता है उसकी विशिष्टताओं के प्रति उसकी रुचि को पुष्ट करने, आगे के विशेष अध्ययन के लिए व्याख्यात्मक सामग्री के चयन करने की और इसके बावजूद बच्चे की भावनाओं व सोच के साथ तालमेल बैठाकर तथ्यों व विचारों को प्रस्तुत करने की है। इसलिए मानव जीवन से उनके संबंध को ध्यान में रखा गया है। कार्य के सामाजिक पहलू, लोगों के कार्य, उनके अन्योन्याश्रित होने और विज्ञान के भौतिक बलों एवं तथ्यों में किसी तरह की पृथकता नहीं बरती गई। वजह यह है कि मानव व प्रकृति के बीच सचेतन अंतर बाद के अवलोकन व विचारणा

का परिणाम है। इस स्तर पर बच्चे पर यह थोपना, उसकी सकल मानसिक ऊर्जा को विकसित करने में असफल होना और उसे भ्रमित करना ही होगा। परिवेश सदा ऐसा होता है जिसमें जीवन हो। जिसके माध्यम से घटनाक्रम चलता है। इसे अलग करना, बच्चे के लिए इसे अवलोकन व टिप्पणी की वस्तु बनाना, मानव स्वभाव की अनदेखी करना ही होगा। इससे मस्तिष्क की प्रकृति के प्रति मूल प्रवृत्ति का हनन होता है। यह तो प्रकृति को एक बेमानी विवरण वाली वस्तु बनाने के समतुल्य होगा।

आधुनिक शैक्षणिक सिद्धांत 'ठोस' और 'व्यक्तिगत' पर जोर देने के चक्कर में इस तथ्य को नजरअंदाज कर देता है कि किसी किसी पत्थर, संतरे या बिल्ली जैसी व्यक्तिगत भौतिक वस्तु का अस्तित्व व प्रदर्शन उसके ठोस होने की गारंटी नहीं होती। यह मनोविज्ञान का मामला है। मस्तिष्क को जो कुछ आकर्षक लगता है वह संपूर्ण और आत्मकेंद्रित होता है। किसी निष्क्रिय और बाहरी स्थिति की प्रतिक्रिया से अक्सर अनुमान लगाया जाता है कि सीधे मानवीकरण से ही आवश्यक वस्त्रादि का मनुष्य के लिए महत्व समझा जा सकता है। हम निरंतर बादल, बरसात, पौधों के प्रतीकों का प्रयोग करते हैं जिससे केवल आभासी-विज्ञान ही संभव है। इससे प्रकृति के प्रति प्रेम उपजने के बजाय किन्हीं संवेदी या भावनात्मक रुचियों का संचार होता है जिनकी परिणति अंततः छिन्नता व उत्तेजना में होती है। साहित्य के माध्यम से प्रकृति तक पहुंचने की प्रवृत्ति भी मानव के साथ उसका संपर्क जोड़ने की आवश्यकता को तो स्वीकारती है, जब हम किसी पेड़ की कहानी सुनाते हैं, लेकिन इस मामले में यह भूल जाते हैं कि मस्तिष्क से वस्तु तक जाने का एक सीधा रास्ता भी है। उसका जीवन से सीधा संपर्क कर के। कहानी या कविता का महत्व किसी धारणा को पुष्ट करने में है। वह आधार शिला नहीं बन सकती। दूसरे शब्दों में आवश्यकता

बच्चे के मस्तिष्क का प्रकृति से संपर्क जोड़ने की नहीं, पहले से मौजूद संपर्क को स्वच्छंद व प्रभावी तरीके से खेलने देने की है।

2. इससे वे व्यावहारिक सवाल उत्पन्न होते हैं जिन पर आमतौर पर 'सहसंबंधों' के तहत चर्चा की जाती है। उन विविध वस्तुओं व नियंत्रित शक्तियों से संबंधित प्रश्न का अध्ययन किया जाता है जिनसे व्यर्थता से बचा जा सके और मानसिक विकास की एकात्मता बरकरार रहे। इस स्थिति को अंगीकार कर लेने के बाद समस्या भेद करने की है न कि सहसंबंधों की जैसा कि आमतौर पर समझा जाता है। जीवन की समग्रता, जैसा कि बच्चा उसे देखता है, उसके सामने विभिन्न कार्य, विविध पेड़पौधे, पशु, भौगोलिक स्थितियां रखती है। उसकी मानसिक व भावनात्मक संतुष्टि व संपूर्णता के लिए ड्राइंग, माडलिंग, खेल, रचनात्मक कार्य, अंकों की गणना आदि का सहारा लिया जाता है। इस साल में पढ़ने और लिखने पर अधिक ध्यान नहीं दिया जाता। लेकिन अगर यह आवश्यक है तो इस पर भी वही सिद्धांत लागू होगा। विषयों सामग्री की समानता और निरंतरता ही व्यवस्थित करती है और परस्पर संबंध जोड़ती है। यह काम उन उपकरणों के जरीए नहीं होता जिन से टीचर असंबद्ध चीजों को जोड़ने की कोशिश करते हैं।

3. प्राथमिक शिक्षा की दो मान्य आवश्यकताएं वर्तमान में अक्सर परस्पर जुड़ी हुई नहीं हैं बल्कि वे एकदूसरी के विरुद्ध ही हैं। जैसा कि हम पहले अनुभव कर चुके हैं अज्ञात व दूरस्थ तक पहुंचने के लिए ज्ञात की आवश्यकता है। इसमें बच्चे की कल्पना शक्ति को एक कारक के रूप में मान्यता मिलने लगी है। समस्या इन दो शक्तियों का एकसाथ इस्तेमाल करने की है, न कि अलग-अलग। बच्चे को अक्सर पहले सिद्धांत के अंतर्गत ज्ञात वस्तुओं व विचारों के साथ अभ्यास कराया जाता है। दूसरे सिद्धांत की पूर्ति के लिए उसे सीधे अपरिचित, अनोखे व असंभव

की जानकारी दी जाती है। कहने की आवश्यकता नहीं कि परिणाम दोहरी असफलता के रूप में सामने आता है। अवास्तविक, कल्पित, परीकथाओं और मानसिक कल्पना शक्ति के खेलों में परस्पर कोई संबंध नहीं होता। कल्पना किसी असंभव विषयवस्तु से संबंधित नहीं होती। वह तो उपलब्ध विचारों के प्रभाव से किसी भी विषय सामग्री के अध्ययन का रचनात्मक तरीका है। बात यह है कि जिस विषयवस्तु से वह पहले से ही अवगत है उसके लिए थकाने वाली पुनरावृत्ति करके चेतना को उसकी ओर निर्देशित करने के बजाय उसे परिचित सामान्य घरेलू परिस्थितियों में उसके लिए ऐसी स्थितियां पैदा करने की है जिनसे वह ऐसी स्थितियां बना सके और उनको समझ सके जिनसे वह अब तक अनजान था। कल्पना की विशेषता भी यही है। कुछ लेखकों का कहना है कि बच्चे की कल्पना को केवल प्राचीन काल की और दूरवर्ती परीकथाओं और मिथकों में ही अभिव्यक्ति मिलती है। सूरज, चांद और सितारों के बारे में अजीबोगरीब बातें गढ़ी जाती हैं। यहां तक कि समस्त 'विज्ञान' के बारे में भी अवास्तविक प्रतिष्ठापनाओं को महत्व दिया जाता है। यह मानकर कि ये सब बच्चे की कल्पना शक्ति को प्रभावित व संतुष्ट करने के तरीके माने जाते हैं। लेकिन सौभाग्य से ये सब चीजें एक औसत बच्चे के लिए अपवाद, तीव्रीकारक और विरामदायी होती हैं। पर वे उसका लक्ष्य नहीं होतीं। जिस जान और जेन को हम सब जानते हैं, वे उसकी कल्पना को जीवन के परिचित व वर्तमान संपर्कों व घटनाक्रम से खेलने देते हैं। ये माता-पिता, मित्र के बारे में हैं। ये स्टीमबोट और रेलवे इंजन के बारे में हैं। ये भेड़ों, गायों, खेत, जंगल, समुद्रतट व पहाड़ों की रम्यता व रोमांच के बारे में हैं। थोड़े में कहें तो जरूरत इस बात की है कि बच्चे को अपने अनुभवों के भंडार, अपने जानकारी के दायरे को दूसरों के साथ बांटने और उसका निष्कर्ष निकालने का अवसर मिले। वह नए

अवलोकन करे। उनका विकास व संशोधन करे ताकि उसके बिंब आगे बढ़ें। उसे जो कुछ नया और विशद मिल रहा है उसको जानने-समझने से मानसिक विश्राम व संतुष्टि मिले।

विचारशील एकाग्रता के विकास के साथ ही बच्चे के निर्देशन की पद्धति में परिवर्तन की संभावना बनती है। पिछले अनुच्छेदों में हम सीधी, सहज प्रवृत्ति पर चर्चा करते आए हैं जो सात साल तक के बच्चे में नए अनुभवों की मांग उपजाती है। वह अपने अपूर्ण अनुभवों को बिंबों का निर्माण करके व उनको अपने खेलों में अभिव्यक्त करके पूर्ण बनाने की कोशिश करता है। यह विशिष्ट प्रवृत्ति है। इसे कुछ लेखक स्वतः एकाग्रता या असंकल्पित एकाग्रता कहते हैं।

बच्चा जो कुछ कर रहा हो, उसमें लीन हो जाता है। जिस काम में वह लगा हो वह उसे पूरी तरह अपने प्रभाव में ले लेता है। वह बिना किसी पूर्वाग्रह के उस काम को समर्पित हो जाता है। हालांकि इसमें काफी ऊर्जा खर्च होती है लेकिन इसमें कोई सचेतन प्रयास नहीं होता। हालांकि बच्चा तल्लीनता की स्थिति तक उसमें निमग्न रहता है लेकिन इसमें उसका कोई सचेतन मंशा नहीं होता।

अधिक दूरस्थ लक्ष्यों के प्रति बोध के विकास के लिए और ऐसे निर्देशक कार्यों की आवश्यकता के कारण जो उन लक्ष्यों के साधन बनें, (इस मामले पर दूसरे नंबर में प्रकाश डाला गया है), हमने अप्रत्यक्ष या जैसा कि कुछ लेखक इसे कहते हैं स्वैच्छिक एकाग्रता की ओर पारण किया है। एक परिणाम परिकल्पित किया जाता है। बच्चे के सामने जो कुछ होता है वह उसमें जुट जाता है या वह जो कर रहा होता है क्योंकि यही परिणाम देने में सहायक होता है। अपने आप में वह वस्तु या कार्य नजरअंदाज करने लायक या उबाऊ हो सकता है। लेकिन चूंकि ऐसा समझा जाता है कि यह कुछ महत्वपूर्ण या वांछित से संबंधित है, यह उसका ध्यान आकर्षित करने में समर्थ होता है।

यही स्वैच्छिक एकाग्रता में पारण है। लेकिन केवल पारण या परिवर्तन। यह पूरी समग्रता तभी पाता है जब बच्चा समस्या या प्रश्नों के रूप में परिणाम पाता है जिनका कि उत्तर या समाधान उसे अपने लिए खोजना है। बीच के उम्र में (बच्चे की आठ से ग्यारह या बारह साल की उम्र तक) जब बच्चा किन्हीं परिणामों तक पहुंचने के लिए बहुत सी ऐसी क्रियाओं में लगा रहता है इस लक्ष्य को निर्धारित किया जाना चाहिए। इससे किसी न किसी तरह का प्रत्यक्ष परिणाम आना चाहिए। समस्या कोई व्यावहारिक कठिनाई होती है न कि बौद्धिक प्रश्न। अपनी क्षमता के विकास के साथ बच्चा ऐसे लक्ष्यों की कल्पना भी कर सकता है, जिनका पता लगाया जाना चाहिए। वह अपनी गतिविधि व कल्पना को इस तरह नियंत्रित कर सकता है जो तद्विषयक पड़ताल और समाधान में सहायक हो। यही वास्तविक विचारशील एकाग्रता है।

इतिहास के काम में आत्मकथा या कहानी के स्वरूप में परिवर्तन किया गया है। जो सवाल या चर्चा इनमें से उपजती है उसके स्थान पर सवाल बनाने का परिवर्तन। ऐसे बिंदु निकालना जिन पर मतभेद संभव हो। ऐसे मामले जो चिंतन या अनुभव से संबद्ध हों, अक्सर इतिहास में आते हैं। लेकिन इस तरह के संदेह या मतभेद वाले मामलों को किसी निश्चित समस्या के रूप में विकसित करना, बच्चे को एहसास कराना कि कठिनाई आखिर है क्या, फिर उसके इस बिंदु से संबंधित विषय सामग्री के लिए उसके अपने साधनों पर छोड़ देना, उसके समाधान के लिए उसे उसके निर्णय पर छोड़ना, निश्चय ही बौद्धिक विकास का द्योतक है। इसी तरह विज्ञान में कैमरे बनाने या उनका इस्तेमाल करने के प्रयोगों के स्थान पर इनमें निहित बौद्धिक समस्याओं पर विचार किया जाता है। जैसे कि प्रकाश के सिद्धांत, कोणीय मापन आदि। ये सिद्धांत की जानकारी देते हैं या अभ्यास की व्याख्या करते हैं।

सामान्यत: यह विकास एक स्वाभविक प्रक्रिया है। लेकिन इसे पूरी तरह पहचानना और इसका इस्तेमाल करना संभवत: बौद्धिक पक्ष में निर्देश देने की सबसे कठिन समस्या है। कोई व्यक्ति जिसने चिंतनीय एकाग्रता, समस्याओं या प्रश्नों को मस्तिष्क में बैठाने की क्षमता अर्जित कर ली हो, वह बौद्धिक रूप से शिक्षित कहा जाता है। उसमें मानसिक अनुशासन होता है। उसमें मस्तिष्क के लिए मानसिक शक्ति होती है। इसके बिना मस्तिष्क परंपराओं और बाहरी सुझावों पर आश्रित रहता है। आमतौर पर दिए जाने वाले निर्देशों में जो खामी पाई जाती है उससे सबंधित एक कठिनाई की चर्चा यहां की जा सकती है। बहुधा यह मान लिया जाता है कि किसी भी विषय सामग्री की ओर सीधे ध्यान आकर्षित कराया जा सकता है। बशर्ते इसके लिए उचित इच्छा और रुझान उपलब्ध हो। असफलता का कारण अनिच्छा या अशिक्षणीयता माना जाता है। बच्चे के सामने अंकगणित, भूगोल और व्याकरण के पाठ रख दिए जाते हैं। उसे कहा जाता है कि वह सीखने के लिए उन पर ध्यान दे। लेकिन यह मानने पर कि एकाग्रता के आधार में कुछ सवाल या संदेह होंगे, स्वैच्छिक एकाग्रता असंभव हो जाती है। अगर सामग्री में पर्याप्त अंतर्भूत दिलचस्पी हो तो उसकी तरफ सीधा व तत्काल ध्यान जाएगा। यह बहुत अच्छा है, लेकिन केवल इससे ही विचार करने की या मानसिक अनुशासन की क्षमता नहीं आ जाती। अगर सामग्री में कोई आकर्षण निहित न हो(उसके स्वभाव, प्रशिक्षण व स्कूल के पूर्वनिर्णय और अपेक्षाओं के अनुरूप) तो टीचर या तो उस सामग्री को बाहरी चीजों से सजाकर उसे आकर्षक बनाने या बच्चे को रिश्वत देने की कोशिश करता है या फिर वह प्रदाहोत्पादकता (कम नंबर देना, पास न करने की धमकी देना, स्कूल के बाद रोकना, निजी नापसंदगी वगैरा। इसे कई तरीकों से अभिव्यक्त किया जाता है, लगातार परेशान करके, या बच्चे को

बार बार ध्यान देने की चेतावनी देकर, आदि) पर उतर आता है। वह ये दोनों तरीके भी इस्तेमाल कर सकता है।

लेकिन (1) इस तरह ध्यान देना कभी भी आंशिक या बंटे होने से अधिक नहीं हो सकता। (2) यह हमेशा किसी बाहरी चीज पर निर्भर रहता है। इसलिए जब ध्यान उधर नहीं रहता या दबाव नहीं रहता तो आंतरिक या मानसिक नियंत्रण के तौर पर बहुत कम या शून्य ही हासिल होता है। और (3) इस तरह ध्यान देना हमेशा सीखने के लिए होता है। यानी दूसरे द्वारा पूछे जाने वाले संभावित सवालों के तैयारशुदा जवाबों को रटना। दूसरी तरफ वास्तविक चिंतनीय ध्यान देने में हमेशा निर्णय लेना, तर्क, चर्चा शामिल होती है। इसका मतलब यह है कि बच्चे के पास अपने सवाल होते हैं। वह संबद्ध सामग्री पाने या उसका चयन करने के लिए सक्रिय रहता है जिससे वह उस सवाल का जवाब पा सके। वह विचार करता है कि इस सामग्री का, जो समाधान वह चाहता है, उससे क्या संबंध है। समस्या उसकी अपनी है। इसलिए उसका समाधान पाने की प्रेरणा व ध्यान देना स्वाभाविक होगा। इस तरह प्रशिक्षण पाना भी उसका अपना ही काम है। यह नियंत्रण क्षमता पाना सीखना है। यानी किसी समस्या का समाधान खोजने की आदत डालना।

कहना न होगा कि परंपरागत शिक्षा में बच्चे को बहुत सी पहले से तैयार सामग्री (किताबें, आब्जेक्ट लेसन, टीचर का व्याख्यान आदि)दी जाती है। बच्चे पर इस तैयारशुदा सामग्री को पढ़ने की जिम्मेदारी डाल दी जाती है। इसमें चिंतनीय ध्यानाकर्षण की बहुत कम और आकस्मिक संभावना ही रहती है। इसमें आधारभूत आवश्यकता न के बराबर ही ध्यान दिया जाता है। जो है, बच्चे को अपनी समस्याओं की ओर ले जाने के लिए प्रेरित करना। ताकि वह खुद उनमें लिप्त होकर उनका समाधान खोजे। इस तरह खुद समस्याएं उसके सामने रखने की इतनी अवहेलना

की गई है कि स्वैच्छिक ध्यानाकर्षण की धारणा ही विकृत हो गई है। इसे अनिच्छापूर्ण प्रयास से आकलन करना माना जाता है। इसे बाहरी माना जाता है। इसे उबाऊ सामग्री मानते हैं जो बहुत प्रयत्नसाध्य स्थितियों के साथ उपलब्ध कराई जाती है। बजाय इसके कि इसे स्वयं आरंभ की गई स्वेच्छिक माना जाए। इसे अनिच्छापूर्ण माना जाता है बजाय इसके कि इसे स्वतंत्र, अपनी रुचि, अंतर्दृष्टि और क्षमता से आत्मनिर्देशित माना जाए।

9

प्राथमिक शिक्षा में इतिहास का उद्देश्य

अगर इतिहास को केवल अतीत का रिकार्ड माना जाए तो यह मानना मुश्किल हो जाएगा कि उसकी प्राथमिक शिक्षा के पाठ्यक्रम में कोई बड़ी भूमिका हो सकती है। अतीत तो अतीत है। मरे हुओं को उनकी कब्रों में ही रहने दिया जाए तो बेहतर होगा। आखिर वर्तमान की बहुत सी तात्कालिक मांगें हैं। भविष्य के द्वार पर भी बहुत सी दस्तकें दी जा रही हैं। ऐसे में बच्चे को अनजान बीते हुए अतीत में ले जाना क्या उचित है! ऐसा व्यर्थ नहीं, जब हम इतिहास को सामाजिक जीवन के बलों और स्वरूपों का विवरण मानते हों। सामाजिक जीवन सदा हमारे साथ होता है। उसके लिए अतीत और वर्तमान का भेद मानी नहीं रखता। वह यहां जिया गया या वहां, यह थोड़े से संचलन का मामला है। यह जीवन से संबद्ध है। यह उन उद्देश्यों को स्पष्ट करता है जिनके कारण मानव एकसाथ रहने लगे। क्या वांछनीय है, क्या घातक है, यह उसकी व्याख्या करता है। किसी विज्ञानी इतिहासकार के लिए इतिहास जो कुछ हो, शिक्षक के लिए यह अप्रत्यक्ष समाजशास्त्र होना चाहिए। समाज का अध्ययन जो उसके विकास की प्रक्रिया और संगठन प्रणाली को उघाड़ता है। वर्तमान समाज बच्चे के लिए बहुत जटिल है, वह उसके बहुत निकट भी है। वह इसका अध्ययन नहीं कर सकता। इसके विवरण की भूलभुलैया में उसे

कोई सुराग नहीं मिलता। वह किसी ऐसे शिखर पर नहीं चढ़ सकता जहां से उसकी व्यवस्था का परिप्रेक्ष्य पा सके।

अगर इतिहास का उद्देश्य बच्चे को सामाजिक जीवन के मूल्यों से अवगत कराना है, उसकी कल्पना में उसे उन शक्तियों को दिखाना है जिन्होंने मानव को परस्पर सहयोग करना सिखाया, उन्हें उस विशेषता को दर्शाना है जो सहायक हुई, तो उसे प्रस्तुत करने में सबसे जरूरी हो जाता है उसे गतिमान बनाना। इतिहास का परिणामों के संकलन या जो कुछ हुआ उसके विवरण के तौर पर पेश नहीं किया जाना चाहिए, बल्कि उसे एक प्रबल सक्रिय वस्तु के रूप में प्रस्तुत करना चाहिए। इसके उद्देश्य उभर कर सामने आने चाहिए। इतिहास का अध्ययन संकलित सूचना के लिए नहीं किया जाता। बल्कि इस सूचना को एक विविधतापूर्ण तस्वीर बनाने के लिए इस्तेमाल करने के लिए किया जाता है कि मानव ने किस तरह और क्यों ऐसा किया और किस तरह इससे सफलता या असफलता पाई।

जब इतिहास को गतिमान रूप में पेश किया जाता है तो उसके आर्थिक व औद्योगिक पहलुओं को भी महत्व मिलता है। यह उन समस्याओं को अभिव्यक्त करने वाली तकनीकी शब्दावली है जिनसे मानवता निरंतर दोचार होती रही है। कैसे जीवन व्यतीत किया जाए। कैसे प्रकृति को मानव जीवन को समृद्ध बनाने में सहायक बनाया जाए। बौद्धिकता की इसी अभिव्यंजना से सभ्यता ने महान उन्नतियां की हैं। इसी बौद्धिकता ने मानव को प्रकृति की दासता से ऊपर उठाया। उसे उस पर उजागर किया कि किस तरह उसकी शक्तियों को अपने उद्देश्य में सहयोगी बना सकता है। आज का सामाजिक जीवन, जिसमें बच्चा रहता है इतना समृद्ध और संपूर्ण है कि यह देखना आसान नहीं कि इसका क्या मोल देना पड़ा है। इसके अतीत में कितनी सोच और प्रयास निहित हैं। आज के मानव को बहुत अधिक उपकरण उपलब्ध

हैं। बच्चे को इन उपलब्ध साधनों को अनिश्चित अर्थों में समझने के लिए निर्देशित किया जा सकता है। उसे निर्देशित किया जा सकता है कि मानव को प्रकृति का समाना करते देख सके। बिना विरासत में मिली पूंजी के, बिना औजारों के, बिना उत्पादित सामग्री के। वह चरणबद्ध रूप ये उस प्रक्रिया को समझ सकता है, जिनसे मानव ने अपनी स्थिति की आवश्ययकताओं को पहचाना, उन उपकरणों और औजारों की कल्पना की जो इन्हें पूर्ण करने में सहायक हो सकती थीं। वह समझ सकता है कि किस तरह इन नए साधनों ने विकास के नए आयाम खोल दिए पर साथ ही नई समस्याएं भी खड़ी कर दीं। मानव का औद्योगिक इतिहास केवल भौतिक या उपयोगात्मक नहीं है। यह बौद्धिकता से संबंधित है। इसका रिकार्ड इस बात का रिकार्ड है कि आदमी ने किस तरह सोचना, किसी परिणाम के लिए सोचना, जीवन की स्थितियों को बदलना सीखा जिससे जीवन एक भिन्न वस्तु बन गया। यह एक नैतिकता का रिकार्ड भी है। उन स्थितियों का रिकार्ड जिनको मानव ने अपने उद्देश्य के लिए बड़े धैर्य से अनुकूल बनाया।

इंनसान कैसे रहते हैं, यह सवाल बच्चे में ऐतिहासिक सामग्री के अध्ययन की तीव्र इच्छा जगाता है। यही वह दृष्टिकोण है जो उसे जिन लोगों के बीच वह आज रह रहा है उनका अतीत में परिश्रम करने वालों से संबंध जोड़ता है। जो उसे सहानुभूति के साथ अध्ययन करने का वरदान देता है। जिस बच्चे की इनसान कैसे रहते हैं, इसे जानने में दिलचस्पी हो, जिन औजारों का उनको इस्तेमाल करना पड़ा हो, जो नए अनुसंधान इनसान ने किए, इससे प्राप्त शक्ति व समय ने जीवन में जो परिवर्तन किए आदि में दिलचस्पी हो वह इस प्रक्रिया को अपनी कोशिशों में दोहराने को उत्सुक रहता है। वह दोबारा बर्तन बनाना चाहता है, उन प्रक्रियाओं को दोहराना चाहता है, उस सामग्री के साथ दोबारा काम करना चाहता है। चूंकि वह प्रकृति प्रदत्त साधनों और उस

प्रक्रिया की बाधाओं के साथ उनकी समस्याओं और सफलताओं को समझता है, इसलिए बच्चे की दिलचस्पी खेत, जंगल, पहाड़, समुद्र, पौधों और पशुओं में होती है। प्राकृतिक परिवेश की एक ऐसी अवधारणा बनाकर जिसमें उसके अध्यनाधीन लोग रहते थे, वह उनके जीवन को भली भांति समझ लेता है। अगर वह जिन प्राकृतिक शक्तियों व स्वरूपों से घिरा है, उनसे परिचय प्राप्त नहीं कर लेता तो यह पुनरुत्पादन नहीं कर सकता। इससे इतिहास में दिलचस्पी और अधिक मानवीय रंगों में रंग जाती है। इससे उसका प्रकृति का अध्ययन और महत्वपूर्ण व विशद हो जाता है। इतिहास व विज्ञान का यह स्वाभविक सह-संबंध है।

इतिहास के अध्यापन में सामाजिक जीवन के गहराई में अध्ययन का यही उद्देश्य उसमें जीवविज्ञान के तत्व लाता है। इतिहास की सामग्री व्यक्तिगत स्वरूप में प्रस्तुत करने पर बच्चे को अपनी विविधता व संपूर्णता के साथ आकर्षित करती है। जब उसे किसी वीर नायक के जीवन व कारनामों के साथ जोड़ दिया जाए तो इसमें कोई संदेह नहीं रहता। जीवन चरित्रों के संकलन का प्रयोग किया जा सकता है, ताकि वे कहानियों के संग्रह की तरह बन जाएं। वे दिलचस्प होंगी, संभवतः रोमांचक भी। लेकिन वे बच्चे को सामाजिक जीवन को समझने के निकट नहीं ला सकतीं। ऐसा उस स्थिति में होता है जब वीर नायक अपने सामाजिक परिवेश से अलग-थलग हो। जब बच्चे को उन सामाजिक स्थितियों, जिन्होंने उसे ऐसे कारनामों के लिए प्रेरित किया था और उस सामाजिक विकास का भान नहीं कराया जाता जिसमें उसके उन कारनामों का योगदान रहा। अगर जीवन चरित्र को सामाजिक आवश्यकताओं और उपलब्धियों के नाटकीय संक्षेपण के तौर पर पेश किया जाए, अगर बच्चे की कल्पना मानव के समक्ष आने वाले उन सामाजिक दोषों व समस्याओं का चित्रांकन कर सके जिनका सामना व्यक्ति ने किया तो जीवन चरित्र सामाजिक अध्ययन का साधन बन सकता है।

इतिहास के सामाजिक लक्ष्य के प्रति जागरूकता उसे मिथ, परीकथा या साहित्यिक अध्ययन मात्र बनाने से रोकती है। हालांकि हर्बर्ट विचारधारा ने प्राथमिक पाठ्यक्रम को इतिहास की दृष्टि से समृद्ध बनाने में बहुत कुछ किया है लेकिन इसने अक्सर इतिहास और साहित्य के वास्तविक संबंधों को औंधा कर दिया है। कुछ अर्थों में अमेरिकन इतिहास का मूलभाव और डीफो का *राबिंसन क्रूसो* एक से लगते हैं। दोनों ऐसे इनसान का प्रतिनिधित्व करते हैं जिसने सभ्यता हासिल की। जिसने विचारधारा की एक निश्चित परिपक्वता हासिल की। जिसने क्रियाओं के साधनों व नियमों का विकास किया। लेकिन जो फिर से अचानक अपने साधनों पर निर्भर हो गया। जिसे प्रकृति के बहुधा आक्रोश का सामना करना पड़ा और जिसने अपनी बुद्धिमत्ता, ऊर्जा, चरित्र की अडिगता के बल पर सफलता पाई। लेकिन जब *राबिंसन क्रूसो* दर्जा चार के बच्चे के पढ़ने के लिए पाठ प्रस्तुत करता है तो क्या हम घोड़ागाड़ी को घोड़े के आगे नहीं रख रहे होते? हम वास्तविकता को पूरे विस्तार के साथ उसके सामने क्यों नहीं रखते? उसकी अधिक तीव्र शक्तियों, जीवन के प्रति उसके अधिक विशद मूल्यों के साथ। उसी तरह की समस्याओं व गतिविधियों के संदर्भ में *राबिंसन क्रूसो* को एक काल्पनिक आदर्श के तौर पर इस्तेमाल करते हुए। आदिम जीवन का सामान्यतः और उत्तरी अमेरिकी जीवन के विशेषतः अध्ययन का जो भी महत्व हो, उसे प्रथमतया पेश करने के बजाय घुमाफिरा कर क्यों पेश किया जाए? ऐसी कविता के माध्यम से जो उन स्थितियों व संघर्षों से संबंधित हो जिनका बच्चे ने अधिक निश्चित रूप में पहले ही अनुभव किया है। या तो रेड इंडियन का जीवन सामाजिक जीवन में अधिक स्थायी प्रश्न छोड़ता है या वह फिर उसका पाठ्यक्रम में कोई स्थान ही नहीं है। अगर उसका ऐसा महत्व है तो उसे अपने दम पर ही स्पष्ट रूप से उभर कर सामने आना चाहिए।

बजाय इसके कि वह साहित्यिक परिष्कार व सुंदरता के प्रस्तुतिकरण में खो जाए।

अपनी सहज निर्भरता में चरित्र व सामाजिक संबंधों को समझने का यही उद्देश्य मेरे विचार में इतिहास के अध्यापन में कालक्रम का निर्धारण करने में सहायक होता है। सभ्यता ने अपना विकास जिन चरणों में किया उसका अध्ययन उसी के अनुरूप करने पर हाल ही में काफी बल दिया गया है। नील-घाटी की सभ्यता से आरंभ करके यूनान और रोम आदि की ओर आकर। बात यह है कि वर्तमान अतीत पर आधारित है। और अतीत की हर अवस्था उससे पहले के अतीत पर।

इतिहास की तर्क व मनोविज्ञान आधारित व्याख्या में अंतर हमारे सामने आता है। अगर लक्ष्य यह हो कि बच्चे को सामाजिक जीवन को समझने का अवसर मिलना चाहिए कि वह क्या है और कैसे विकास पाता है, तो बच्चे को निश्चय ही उसकी भावना से वास्ता रखना होगा न कि दूरस्थ अतीत से। बेबीलोन या मिस्र की सभ्यता की समस्या यह नहीं है कि वह समय की दीर्घ अवधियों में बहुत दूर है। समस्या उसके वर्तमान सामाजिक जीवन की रुचियों व लक्ष्यों से बहुत दूर होने की है। उसका पर्याप्त सहजीकरण या साधारणीकरण नहीं होता। या फिर यह कम से कम सही तरीके से नहीं किया जाता। यह उसे भुलाते हुए किया जाता है जो आज महत्व रखता है। बजाय इसके कि उन कारकों को निम्नतर पैमाने पर प्रस्तुत किया जाए। उसके मुख्य लक्षणों को किसी विशेषज्ञ के लिए भी समझना कठिन है। इसमें संदेह नहीं कि इन लक्षणों ने बाद के जीवन में योगदान वाले कारक प्रस्तुत किए, जिन्होंने समय की धारा में घटनाक्रम के रुख को मोड़ दिया। लेकिन बच्चा उस अवस्था को नहीं पहुंचा है कि वह अप्रत्यक्ष कारणों व विशिष्ट योगदानों को समझ सके। उसे विशिष्ट संबंधों, स्थितियों व गतिविधियों के चित्र के दरकार हैं। इस

लिहाज से प्रागैतिहासिक जीवन में ऐसा बहुत कुछ है जो बेबीलोन या मिस्र के जटिल व कृत्रिम जीवन की अपेक्षा उसके अधिक निकट है। जब बच्चा निर्देशों को समझने के योग्य हो जाता है, तो वह यह समझने योग्य हो जाता है कि हरेक ऐतिहासिक राष्ट्र किसी विशेष संस्थागत विचारधारा का अनुसरण क्यों करता रहा है और उसने वर्तमान संस्थाओं के जाल के निर्माण में क्या योगदान दिया है। लेकिन यह स्थिति तब आती है जब बच्चा अन्य विषयों में भी कारणों को देखने-समझने योग्य हो जाता है। यानी दूसरे शब्दों में जब वह शिक्षा के माध्यमिक स्तर पर पहुंच जाता है।

इस स्कीम में तीन अवधियां या चरण सामने आते हैं। पहले सामान्य या सरलीकृत इतिहास। ऐसा इतिहास जो स्थानीय या कालक्रम के मानी में इतिहास ही नहीं है। लेकिन जो बच्चे को अनेक सामाजिक गतिविधियों से अवगत करता है। इस अवधि में छः साल के बच्चों को वर्तमान नगरों व गांवों में लोगों के विशिष्ट पेशेगत कामों से अवगत होने का अवसर दिया जाता है। सात साल के बच्चों को आविष्कारों के विकास व जीवन पर उनके प्रभाव का अध्ययन कराया जाता है। आठ साल के बच्चों को देशांतरण, अन्वेषण व अनुसंधान के महान परिवर्तनों को समझने का अवसर दिया जाता है, जिन्होंने सारे संसार को एक मानव नस्ल में बांधा। ज़ाहिर है कि पहले दो सालों का काम किन्ही व्यक्तियों या एक व्यक्ति से अलग है। यानी किसी ऐतिहासिक ब्योरे के बिना। लेकिन इसके साथ ही नाटकीयता के जरीए वैयक्तिक कारक का परिचय कराने की गुंजाइश पैदा की जाती है। महान अन्वेषकों व अनुसंधाताओं के विवरण जो कुछ स्थानीय व विशिष्ट है, उस तक पारण को संभव बनाते हैं। वह सब जो किन्ही विशिष्ट व्यक्तियों पर निर्भर था जो किन्हीं निश्चित समय-अवधियों में रहते थे।

यह हमें दूसरे काल तक ले जाता है जहां स्थानीय स्थितियां व इनसानों के विशिष्ट संघ महत्वपूर्ण हो जाते हैं। यह बच्चे की उस क्षमता के विकास के साथ चलता है जब वह सीमित व सार्थक तथ्यों को आत्मसात कर सकता है। चूंकि शिकागो या अमेरिका ऐसे स्थान हैं, जिनको बच्चा पूरी कुशलता से समझ सकता है, अगले तीन सालों की सामग्री प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से इस स्रोत से ली गई है। यहां भी तीसरा साल पारण का साल है। इसमें अमेरिकन जीवन के ब्रिटिश जीवन से संबंधों का अध्ययन है। उस समय तक बच्चे को सामाजिक जीवन के सामान्य अध्ययन से बल्कि उस सामाजिक जीवन से भी जिससे वह भलीं भांति परिचित हो चुका है, बल्कि पूर्णतः विभेदित व विशिष्ट प्रकार के सामाजिक जीवन का अध्ययन करने योग्य हो जाना चाहिए जिसका कि विश्व इतिहास में विशिष्ट प्रकार का योगदान रहा है। अतः अगली अवधि में कालक्रम का अनुसरण किया जाता है। इसकी शुरुआत भूमध्य सागरीय संसार से की जाती है। उसके बाद यूरोप का इतिहास और फिर विभेदक अमेरिकी इतिहास तक का अध्ययन शामिल है।

इस प्रोग्राम को एक समस्या के समाधान के लिए प्रस्तुत नहीं किया गया। बल्कि इसे एक योगदान के तौर पर प्रस्तुत किया गया जो साल दर साल विषयों में परिवर्तन लाकर और प्रयोग करके हासिल किया गया। यानी यह केवल विचारणा का फल नहीं। प्रयोगों का परिणाम है जिसके तहत ऐसी सामग्री देने की समस्या का समाधान खोजा गया जो बच्चे पर महत्वपूर्ण प्रभाव डालने के साथ-साथ उसे सामाजिक जीवन के सिद्धांतों एवं तथ्यों से अवगत कराए। जो उसे बाद में इतिहास के विशेष अध्ययन के योग्य बना सके।

जॉन डेवी (अक्तूबर 20, 1859–जून 1, 1952), एक अमेरिकन दार्शनिक, मनोवैज्ञानिक व शिक्षा–सुधारक थे। उनके चिंतन और विचारों का अमेरिका एवं सारे संसार में बहुत अधिक प्रभाव पड़ा।

EDUCATION

OTHER AAKAR BOOKS

DEMOCRACY AND EDUCATION
An Introduction to the Philosophy of Education
John Dewey

THE DISCOVERY OF THE CHILD
Maria Montessori

DIGITAL DIPLOMA MILLS
The Automation of Higher Education
David F. Noble

RECALLING THE FORGOTTEN
Education and Moral Quest
Avijit Pathak

Cover Design: Limited Colors

आकार बुक्स

28 ई पॉकेट IV, मयूर विहार फेज-I, दिल्ली-110091
फोन: 011-2279 5505 टेलीफैक्स: 011-2279 5641
www.aakarbooks.com; aakarbooks@gmail.com

aakarbooks.com
ISBN 10: 81-89833-73-1
ISBN 13: 978-81-89833-73-2
9 788189 833732
Rs. 195.00